उल्का

वि. स. खांडेकर

•

मेरे स्नेही मातामह

स्व. पू. बाबाकाका माईंगकर

इनके पवित्र चरणों में

•

पार्श्वभूमि

१

उल्का यह मेरा तीसरा उपन्यास; क्रौंचवध बारहवाँ। उल्का का रचना काल है सन १९३३ और क्रौंचवध का सन १९४२। तब भी हिन्दी के प्रेमी पाठकों के सन्मुख उपस्थित होने का सौभाग्य पहले क्रौंचवध ही को प्राप्त हुआ। यह घटना तो कुछ कुछ ऐसी ही जान पड़ती है कि जैसे बड़ी बहन के ब्याह के पहले ही छोटी बहन का ब्याह संपन्न हो गया हो। लेकिन क्या मानवीय जीवन में और क्या ललित कृतियों में यह सिद्धान्त तो नहीं है कि हमेशा आयु के साथ ही साथ गुणों में वृद्धि होनी ही चाहिए। क्या दुनिया में ऐसे लोग कम दिखाई देते हैं कि जिनके सिर के बाल सफेद हो जाने पर भी उनके मन की दशा अपरिपक्व ही रह जाती है? मुख पर झुर्रियाँ पड़ जाने के बाद भी कई वृद्ध ऐसे दिखाई देते हैं कि जिनकी वृत्ति की झुर्रियाँ ज्यों की त्यों ही बनी रहती हैं और गलित गात्र हो जाने पर भी उनकी दुर्दान्त विकार वासनाओं का उपशम ही नहीं हो पाता। ललित कृति में भी इस बात की अनुभूति यदाकदा आती ही है। कई लेखक विकास की एक खास मर्यादा तक आ पहुँचते हैं और वहीं पर उनकी गति सहसा ठिठक जाती है। कईयों के लिखने में सद्गुण एवं दुर्गुणों का ऐसा ज्वार भाटा नज़र आता है कि जिसका नियत नियम ही नहीं बनाया जा सकता। प्रौढ़ता की अवस्था में पहुँचते ही कई लेखकों की प्रतिभा निस्तेज, श्रीहीन दिखाई देने लगती है और इसके विपरीत यह भी देखा जाता है कि कईयों की प्रतिभा शुक्ल पक्ष के चन्द्र के समान निखर उठती है। यह सच है कि इस दशा में यह बात

खास महत्त्व नहीं रखती कि किस लेखक का कौनसा उपन्यास पहले पहल लिखा गया है और कौनसा बाद में। तब भी, साथ ही साथ इस बात को भी हम अस्वीकार नहीं कर सकते कि सामाजिक आशय से युक्त ललित-कृति की पार्श्वभूमि के अवगत हो जाने पर उसका आस्वाद चखते हुए रसिक मन को किसी अनूठे ही आनन्द की प्राप्ति होती है और इसीलिए मेरी लेखनी द्वारा उल्का का निर्माण कैसे हुआ इस का मैं कुछ ही शब्दों में दिग्दर्शन करना चाहता हूँ।

'उल्का' के पहले मैंने 'काँचन मृग' और 'हृदयाची हाक' नामक दो उपन्यास लिखे थे। इन दोनों उपन्यासों को पाठकों ने अत्याधिक पसन्द भी किया था; तब भी उन उपन्यासों ने स्वयं मुझको अन्तरिक प्रसन्नता प्रदान न की। 'हृदयाची हाक' (हृदय की पुकार) इस उपन्यास की अपेक्षा 'काँचन-मृग' यह रचना अधिक सजीव है और उसका निर्माण लेखक की अनुभूतियों के द्वारा ही हुआ था। अध्यापक के नाते जीवन में जितनी भी अनुभूतियाँ मैंने प्राप्त कीं, उन्हें मैंने इस उपन्यास में लिपिबद्ध किया। साधारण पाठक की चित्तवृत्ति को उल्लसित करने वाला कल्पना एवं भावनाओं का विलास इस उपन्यास में काफी अच्छी मात्रा में प्रकट हो पाया है। लेकिन उन दिनों, जीवन के जिन पहलूओं को मैं देख रहा था और जीवन में जिन बातों का अनुभव कर रहा था, जितनी भी सामाजिक समस्याओं ने मेरे चित्त को विकल, अशान्त बना रखा था, अपने उपन्यास द्वारा जिस विशाल 'जीवन दर्शन' को मैं पाठकों के सन्मुख उपस्थित करना चाहता था, उन सब की कमी 'काँचन मृग' में थी। 'उल्का' में इस न्यूनता की पूर्ति करने की भरसक चेष्टा मैंने की है और मेरी धारणा है कि इसी वजह से मेरी ही तरह मराठी के पाठकों ने भी 'उल्का' को बेहद पसन्द किया।

यह लिखते हुए मैंने अपने कथन में 'जीवन दर्शन' इस शब्द का

प्रयोग किया है। उस शब्द के सम्बन्ध में दो शब्द लिखना आवश्यक है। दक्षिण भारत में साँगली नामक छोटेसे नगर में सन १८९८ में मध्यम परिवार में मैंने जन्म ग्रहण किया। उस समय, जब कि मेरी आयु आठ साल ही की थी कि पिताजी लकवे की बीमारी के शिकार हो गए और उनके लिए बिस्तर से हिलना भी मुश्किल हो गया और इसी से, शैशव ही से दैन्य और दरिद्रता से मेरी खूब मित्रता हो गई। मैट्रिक तक कि मेरी पढ़ाई जैसे तैसे साँगली ही में हुई, बाद की पढ़ाई के लिए अपना नाम मैंने पूना के फर्ग्युसन कालिज में दर्ज कराया। लोकमान्य तिलक, आगरकर आदि दिव्य विभूतिओं के द्वारा, आँखों के सामने महान आदर्शवाद को रखते हुए इस कालिज का संचालन जारी था। जिस वक्त इस कालिज में मैं पढ़ता था तब भी उस आदर्श वाद की सुगंध–भीनी भीनी क्यों न हो–वायु मंडल में महक रही थी। उस उन्मादक सुगन्ध ने मुझको विमोहित कर डाला। बचपन से ही ललित-साहित्य के प्रति मेरे मन में असीम अनुराग था। निबन्धकार आगरकर, उपन्यासकार हरि नारायण आपटे, हास्य रस के धनुर्धर, सिद्ध हस्त लेखक श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर और नाटककार राम गणेश गडकरी इन सब के शक्तिशाली, समृद्ध साहित्य के संस्कारों ने मेरे मन को अत्यधिक प्रभावित कर रखा था। यह सब लेखक सामाजिक सुधारों के प्रथम श्रेणी के प्रणेता थे।

उस प्रतिकूल पारिवारिक परिस्थिती में पेट के लिए दौड़ धूप करते हुए मुझे कालिज की पढ़ाई अधूरी ही छोड़ देनी पड़ी। लेकिन उस दशा में मैं न किसी सरकारी नौकरी की तलाश में था न ही शहर में रहना चाहता था और न ही इस चिंता में रात दिन घुलता था कि अब मेरी नैय्या किस तरह पार लगेगी। मैं कोंकन के (महाराष्ट्र का समुद्र तटवर्ती एक हिस्सा) किसी छोटे से देहात में जाकर रहा, ताकि मैं जन साधारण की कुछ न कुछ सेवा कर सकूँ। वहाँ पहुँचते ही मैंने पाठशाला चलाने का कार्य आरंभ कर

दिया। उस गाँव का नाम है शिरोड़ा। आगे चल कर सन १९३० में गांधीजी के 'नमक सत्याग्रह' के कारण इस छोटे से गाँव का नाम अप्रत्याशित रूप से चारों ओर चमक उठा।

२

सन १९२० में अध्यापक के नाते जब मैंने पहले पहल शिरोड़ा में पदार्पण किया, तब इस बात का मैंने अच्छी तरह से अनुभव किया कि दूर के ढोल के भाँति देहात भी दूर ही से सुहावने मालूम पड़ते हैं। यह सच है कि देहातों के प्राकृतिक दृष्य अत्यन्त मनोरम होते हैं किन्तु वहाँ का जनसाधारण? ज्ञान के आनन्द से वंचित, कई पीढ़ियों से लेकर रूढ़ धर्म की पट्टियाँ आँखों पर बँधी रहने के कारण आँख का अंधा – पेट की आग बुझाने की चिंता में आठों पहर – बारहों महिने व्यस्त – जो आने वाली कल का स्वरूप देख नहीं सकता – विगत जीवन की मधुर स्मृतियाँ जिसकी चित्तवृति को उल्लसित नहीं कर सकती और वर्तमान जिसे ऐसा जान पड़ता है कि मानो उसके पैरों में सौ सौ मन की बेड़ियाँ किसी ने डाल रखी हो – इस तरह का मन्दभाग्य प्राणी, मनुष्य के चोले में हमारे देहातों में जीवन-यापन करते हुए दिखाई देता है। वह किसी दिन पैदा होता है, रोज़ एड़ी से चोटी तक पसीना बहाकर अथक मेहनत मज़दूरी में निरन्तर जुटा रहता है और पाँच-पचास साल के अनन्तर किसी दिन मर जाता है।

मध्यम वर्गीय सुखी परिवार में जन्म ग्रहण करने पर भी, पिताजी को लकवा मार जाने के कारण, दरिद्रता की आग मनुष्य को किस तरह झुलसाती रहती है इस बात से मैं अच्छी तरह परिचित था। तब भी हमारी दरिद्रता तो एक मध्यम वर्गीय परिवार की दरिद्रता थी। तेज़ धूप में मार्ग क्रमण करनेवाला व्यक्ति जिस तरह शिकायत करता है कि पैरों में जूता है लेकिन हाथ में छाता नहीं है, उसी तरह मध्यम वर्गीय गरीबों की शिकायतें होती हैं। लेकिन शिरोड़ा में रहकर निम्न श्रेणी के लोगों की भीषण दरिद्रता का

नग्न रूप जिस समय मैंने देखा......यदि मैं कोई कुशल चित्रकार होता तो उस दृष्य को इस तरह रेखांकित करता —

दोपहर का सूर्य माथे पर खड़ा होकर आसमान से आग बरसा रहा है, समुद्र के विशाल तट की मरु-भूमि किसी अग्निकुंड की भाँति धधक रही है और उस मरु-भूमि से अनगिनत लोग सिर पर पाँव रखे नंगे पैरों ही दौड़ रहे हैं, गर्म बालू के उस असहनीय दाह से बचने के लिए वे बेचारे जी लेकर दौड़ने की भरसक चेष्टा कर रहे हैं......शायद इस ख्याल से कि कहीं न कहीं, कुछ ही फ़ासले पर, सहारे के लिए उन्हें ठँडी छाँह मिल ही जायगी। असीम तेज़ी के साथ दौड़ने के कारण कईयों के मुँह से झाग निकल रहा है, चेहरे पर मुर्दनी सी छा गई है। अन्त में श्रान्त, क्लान्त हो जाने के कारण उनमें से एक के बाद एक, कई लोग, लड़खड़ाकर उस प्रचन्ड अग्निकुंड में गिर रहे हैं — छटपटा कर प्राणों का त्याग कर रहे हैं।

लज्जा की रक्षा करने के लिए पास में गज़ भर भी कपड़ा न होने के कारण महीनों घर से बाहर क़दम न डालनेवाली मज़दूर स्त्री शिरोड़ा ही में मुझे पहले पहल दिखाई दी। बरसों तक सिर्फ़ माँड ही पीकर मुट्ठीभर चावलों से बने भरपेट भोजन पर तृप्त होकर पाठशाला में पढ़ने के लिए आनेवाला और मौत के दिन पूरे करनेवाला मेधावी—असीम बुद्धिमान छात्र शिरोड़ा ही में मुझे पहले पहल दृष्टिगोचर हुआ——दिवाली जैसे महा–पर्व के अवसर पर मुट्ठीभर लाई और चिऊड़े के लिए भद्र परिवार के लोगों के दरवाज़े में हाथ फैलाकर मूक–रुदन करनेवाले अछूत को शिरोड़े ही में मैंने प्रथम देखा। इस तरह के और भी अनगिनत दृष्यों को देखकर मेरा हृदय हाहाकार कर उठा। जब मैं छात्र दशा में था तब 'वंदे मातरम' गीत गाते हुए 'त्रि सत कोटी—कंठकृत–निनाद कराले' इस पंक्ति पर आ पहुँचते ही मैं गौरतान्वित हो उठता था। मेरे उन इकत्तीस करोड़ या तीस करोड़ या पैंतिस करोड़ कहिए – देशबन्धुओं में से कई सहस्त्र प्राणिओं को शिरोड़ा में

अपले गिर्द मैं देख रहा था। जीवित रहने के लिए, चोले के पिंजरे में प्राण–पँखेरु को बंदिवान बना रखने के लिए आठों पहर बारहों महीने मूक-आक्रोश कर रहे थे। बंकिमचन्द्र की यह कल्पना कि इन जैसे अभागी बंदकिस्मत प्राणियों के मुख से रण गर्जना सुनाई दे रही है – मुझे कोरी कवि कल्पना ही जान पड़ने लगी। जैसे जैसे समय व्यतीत होने लगा वैसे वैसे मेरी यह धारणा परम बलवती होने लगी कि सिर्फ राजनीतिक क्षेत्र की गुलामी से छुटकारा होने पर ही हमारा देश सुखी न हो सकेगा। इस बात में मुझे तनिक भी संदेह न रहा कि सदियों से माथा पीटते बैठी अभागिनी भारत-माता के मुख पर मुस्कराहट की आभा तो तब ही प्रस्फुटित हो उठेगी, जब राजनीतिक क्रांति के साथ ही साथ — उसका हाथ बटाते हुए सामाजिक क्रांति भी अवतार धारण करेगी। मुझे जान पड़ने लगा कि मैं अपनी अनुभूतियों के प्रति विश्वास-पात्र तब ही कहलाऊंगा कि जब मेरी यह श्रद्धा मेरे आगामी उपन्यासों में प्रतिबिंबित हो उठेगी।

और इसी समय इस बात का भी मुझे ज्ञान हुआ कि सामाजिक क्रांति और समाज-सुधार इन दोनों में ज़मीन आसमान का फर्क है-महान विलगता है। मेरे बचपन में सामाजिक सुधार का अर्थ मध्यम वर्गीय संभ्रांत परिवारों के विकास में बाधा डालनेवाली अंध धार्मिक रूढियों एवं भ्रम मूलक धारणाओं को विनष्ट करना इतना ही था। उस ज़माने में किसी के विधवा-विवाह करने पर उस व्यक्ति को बधाई देने के लिए– (और साथ ही साथ विरोध में भी) विराट सभाएँ की जाती थीं। उपाधि प्राप्त करने पर भद्र परिवार की कन्याओं की तसवीरें उस ज़माने में समाचार पत्रों में छपती थीं और शायद यह भी हो सकता है कि पति के साथ घूमने टहलने जाने के साहस के प्रदर्शन पर किसी वीर पत्नी को उस ज़माने में मान–पत्र भी भेंट किया गया हो।

शिरोड़ा में रहकर ही मैंने सीखा कि वास्तव में सफेद पोश मध्यम वर्गियों

ही को विशाल समाज मानना यह हमारी सरासर भूल है। उनके दहेज के, प्रेम भंग के या अन्य इसी तरह के कष्ट विपत्तियों को जनसाधारण का दुःख कहना भ्रम-मूलक सिद्ध होगा। इस बात को मैंने अब कहीं जाना कि 'पीठ की मार सह लूँगा लेकिन पेट की मार नहीं' इन शब्दों में कितना करुण अर्थ निहित है। इस विषय में मेरे दिल में संदेह के लिए गुंजाइश ही न रही कि सर्व स्पर्शी समता यही सुखी, समुन्नत समाज की नींव है। यद्यपि समता का तत्त्व-ज्ञान भारतीय संस्कृति का संवर्धन करने वाले हमारे प्राचीन साहित्य में स्थान थान पर प्रतिबिंबित हो उठा है, तब भी एक ओर समस्त पूजनीय ऋषीगणों एवं समस्त महान धार्मिक ग्रंथों के समानता के तत्त्व का स्वीकार करने पर भी दूसरी ओर भारतीयों के प्रत्यक्ष जीवन में विषमता ही का श्रेष्ठत्व प्रति दिन वृद्धिंगत होता ही गया। आधुनिक युग में विश्व की प्रतियोगिता में भारतीयों की हार होने की जड़ इसी बेसुरेपन में है। देव मंदिरों में जाकर, देव भाषा में हम 'घट घट में राम समाया' की शिक्षा ग्रहण करते थे, लेकिन उस 'घट घट वासी' के मंदिर के प्रांगण के बाहर कदम रखते ही किसी अछूत के दर्शन हो जाने पर हम खूबी के साथ वहाँ से कतराने लगते थे, इस डर से कि उसकी छाँह पड़ने के कारण कहीं हम कलंकित-अपवित्र न हो जायें।

'सर्वेतु सुखिनः सन्तु' इस सुंदर श्लोक की तोता-रटन्त को हम सदियों से रटते रहे लेकिन हमने यह कभी नहीं सोचा कि केवल सदिच्छा के प्रदर्शन से संसार के इन दुःखों का परिहार कदापि न होगा। अगर हम वास्तव में उनका निवारण करना चाहते हैं तो उस कार्य की पूर्ति त्याग, सेवा, संगठन एवं कर्तृत्त्व के बल पर ही कर सकते हैं। हमारे काव्य-कथा एवं इतिहास पुराणों के द्वारा जीवन के उच्चतम, महान आदर्शों के चित्र का निर्माण हमने किया लेकिन इस बात का हमें विस्मरण हो गया कि नए उज्वल इतिहास की निर्मिती तो तभी हो सकती है कि जब समाज अपने बनाए आदर्शों पर चले। पाप-पुण्य एवं स्वर्ग-नर्क इन बातों का चर्वित-चर्वण करते हुए और समाज

के निम्न स्तर के व्यक्ति के द्वारा भी प्रचलित धर्म और नीति का पालन कर-वाते हुए हमने हमेशा सिर्फ़ इसी अर्ध-सत्य पर ज़ोर दिया कि 'मनुष्य के आत्मा होती है'।

जिस तरह केवल आत्मा ही को हम जीवन नहीं कह सकते, उसी तरह सिर्फ़ शरीर को भी जीवन नहीं कहा जा सकता। जिस तरह केवल सुख विलास का उपभोक्ता बनने के लिए मनुष्य पैदा नहीं हुआ है, उसी तरह त्याग की आदर्श प्रतिमा बनने के लिए भी उसे जन्म प्राप्त नहीं है। आत्मा एवं रोटी, त्याग एवं भोग इनके सुंदर समन्वय में जिस समाज को आसानी से सफलता प्राप्त होती है वही समाज साधारण मनुष्य के विकास में सहायता प्रदान कर सकता है। जिस समाज में धर्म के थोथे आडंबर या राजसत्ता के सुंदर आवरण के नीचे तरह तरह की विषमता का नग्न नृत्य जारी है, जहाँ पर धनवानों के दरवाज़े पर बँधे कुत्ते के पिल्ले को भोजन की जो सामग्री नित्य प्राप्त होती है, उसी समाज में गरीबों के प्यारे प्यारे नन्हे मुन्नों को उसका आँखों से दर्शन तक दुर्लभ है, जिस समाज में एक ओर तो पाँच मँज़िलेवाले प्रासादों में दस पाँच लोग भूत-प्रेतों जैसा निवास करते हैं, दूसरी ओर नीचे सड़क पर पत्थरों की बनी गंदी पटरियों पर हज़ारों इन्सान कुत्ते बिल्लियों के समान निद्रा की आराधना में छटपटाते हैं; जिस समाज में एक ओर अमीरों के फूहड़ लड़कों की विदेश यात्रा के लिए पानी जैसा रुपया बहाया जाता है और उसी समाज में दूसरी ओर, बुद्धिमान किन्तु निर्धन छात्रों के लिए मामूली पढ़ाई तक का प्रबन्ध भी मुश्किल से हो सकता है वह समाज.........

मेरे शिरोड़ा निवास के प्रथम दस वर्षों में मेरी यह दृढ धारणा हो चुकी कि बद-किस्मती से हमारे समाज का रूप इससे विभिन्न नहीं हैं। रह रह कर मेरे दिल में विचार उठते कि किसी हालत में इस समाज में अमूलाग्र परिवर्तन करना ही होगा। समाज-सुधार की बचपन की मेरी संकुचित

धारणाएँ आहिस्ता आहिस्ता धुंधली सी हो कर पिछड़ गई। विशाल सामाजिक क्रांति के अस्पष्ट से स्वप्न मेरे मन को दिखाई देने लगे। किसी भी क्रांति की कल्पनाएँ तो विद्रोही मन में ही जड़ पकड़ती हैं। ऐसे ही एक विद्रोही तरुण का........अन्याय के साथ प्राणप्रण से मुकाबला करने वाले धीर युवक का चित्र आहिस्ता आहिस्ता मेरे मन में साकार रूप धारण करने लगा और उसी के रूप में उल्का में का चन्द्रकान्त एक दिन अचानक मेरी आँखों के सामने आ खड़ा हुआ।

३

उल्का में 'उल्का' का निर्माण कैसे हुआ इस की कथा सर्वथा भिन्न है। यह घटना शायद उस समय की है जब मैं 'काँचन मृग' लिखने में व्यस्त था। किसी दिन अधेड़ उम्र के मेरे एक दोस्त ने रुमाल में बँधा एक छोटासा बंडल मेरे हाथ में थमा दिया। उस बंडल को खोलकर देखता हूँ तो भीतर कुछ चिठ्ठियाँ, हेअर पिन्स और इसी तरह की अन्य दो एक ज़नानी चीजें मुझे दिखाई दीं। उन चिठ्ठिओं को देखते ही मैं भाँप गया कि ये प्रेम पत्र हैं। पहले तो मैंने भूलकर भी यह न सोचा था कि उस ज़नाने रुमाल और उन दस पंद्रह चिठ्ठियों की ओट में कोई बड़ी ही दर्दनाक कहानी छिपी होगी; लेकिन जिस वक्त आँखों में उमड़ घुमड़ कर आनेवाले आँसूओं को रोक कर मेरे मित्र ने अपनी अभागिनी लड़की की बदनसीबी का इतिहास सुनाया तो उसे सुनकर मैं चित्र–लिखित सा बैठा ही रह गया।

एक शिक्षित युवक के साथ उस लड़की का परिचय हुआ। उस परिचय को प्रेम में परिणत होते देरी न लगी। उस युवक को कविताएँ बनाने का बड़ा ही शौक था। मेरे मित्र खुश हुए। कवि जैसे कोमल हृदय युवक को दामाद के स्वरूप में स्वीकार करते हुए कौन खुश न होगा? उन दोनों को उन्होंने हृदय पूर्वक आशिर्वाद दिया। आनन्द के इस अवसर के उप-

लक्ष्य में कन्या तथा वरपक्ष के दोस्त बिरादरों को एक शानदार दावत दी गई। उस दावत के अवसर पर लड़का-लड़की के द्वारा एक दूसरे को अंगूठियाँ प्रदान की गईं और इस तरह उस दम्पती के प्यार-मुहब्बत पर सामाजिक स्वीकृति की मोहर भी लगा दी गई। यह सोचकर कि अब कोई अच्छी सी तिथि देखकर दोनों के हाथ पीले कर देंगे—भविष्य के सुख सपनों में लीन—पिता कन्या के साथ अपने गाँव लौटा। लेकिन इसके अनन्तर कुछ ही दिन हुए थे कि उनके सब मधुर सपनों का उनके होने वाले दामाद के एक पत्र ने चकनाचूर कर दिया।

कवि महाशय ने लिखा था—

'यह लिखते हुए मुझे दुख हो रहा है कि आप की कन्या से मैं प्रेम नहीं करता। हाँ, कुछ समय पहले मेरी यह धारणा थी कि मेरा उससे प्यार हो गया है—लेकिन वह मेरा भ्रम था, मेरी भूल थी। आप तो जानते ही होंगे कि मनुष्य से गल्ती हुआ ही करती है लेकिन हमें चाहिए कि उस गल्ती को तुरन्त ठीक कर लें। सच मानिए, इस दूसरी लड़की से मैं हृदय से प्रेम करता हूँ। आप की कन्या से मेरा परिचय होने के पहले इस लड़की से मैं परिचित न हो सका यह मेरी बद—किस्मती थी। अब इस विषय में मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि वह मेरे लिए और मैं उसके लिए—हम दोनों एक दूसरे के लिए ही पैदा हुए हैं, यह बात सूर्य प्रकाश के जैसी सत्य है—तब......'

उस पत्र ने पल भर में उनकी लड़की के जीवन को किस तरह कुम्हला डाला उस की करुण-कहानी अपने मित्र के मुँह से मैंने सुनी। उसे मैं अब तक भूल न पाया, न मुझे आजीवन उसका विस्मरण होगा। मेरे मित्र के उन आर्त शब्दों के स्मरण भर से मेरा मन अब भी व्यथित होता है—मैं सिहर उठता हूँ।

इतने निकट की यह कहानी!

मैं मध्यम वर्ग की ओर देखने लगा ! तब मुझे दिखाई दिया कि यह कहानी किसी एक्की दुक्की लड़की ही की नहीं है। सन १९१३ में जब मैं मैट्रिक की क्लास में पढ़ता था, मराठी के सामाजिक उपन्यासों के यथार्थ में जनक श्री. हरिभाऊ आपटे के 'पण लक्षांत कोण घेतो' और 'मायेचा बाजार' ये उपन्यास मैं अपनी मामी को पढ़कर सुनाया करता था। इन उपन्यासों में वर्णित नारी-जीवन की अत्यन्त वास्तव-पूर्ण एवं करुण कहानियों को सुनकर मामी की आँखें छलछला आती थीं और भर्राई आवाज़ में वे कहा करती थी—"दुनिया के सब दुख-दर्दों को झेलने के लिए ही तो परमात्मा ने नारी को जन्म दिया है बेटा........' मैं उन्हें सांत्वना देता—'मामी, अब नारी के दुख पहले जैसे न रहेंगे। हरिभाऊ के जैसे महान उपन्यासकार ने इन दुख-दर्दों को समाज के सामने रखकर पुरुषों की पोल खोल दी है। हमारा समाज अब हड़बड़ा कर जाग्रत हुआ है। पुरुष शिक्षित हो रहे हैं, भविष्य में नारी के प्रति पुरुष का बर्ताव समानता का रहेगा,—नारी अब किसी हालत में अपने अधिकारों से वंचित न रह सकेगी, देखना, अब कुछ ही दिनों में हरिभाऊ के सामाजिक उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास कहलाएँगे'—

इसके अनन्तर कई साल तक मेरी यह प्रामाणिक धारणा थी कि मामी के पास किया मेरा भविष्य कथन रत्ती रत्ती सही सिद्ध हो रहा है। मेरी यह धारणा होने की एक वजह यह भी हो सकती है कि शायद उस वक्त मेरी आयु वह थी जिस आयु में मनुष्य कल्पना-जगत् में संचार करते हुए अपने आप को खो बैठता है। दूसरी-और इससे अधिक ठोस वजह यह थी कि उस आयु में प्रत्यक्ष जीवन के सुख-दुःखों का अनुभव करनेवाली नारियों की अपेक्षा, उपन्यासों की नायिकाओं के, साथ ही मेरा घनिष्ट परिचय था।

कालिज में शिक्षा ग्रहण करते समय हरिभाऊ आपटे के बाद मराठी के युग प्रवर्तक उपन्यासकार थे वामन मल्हार जोशी। उनके प्रथम उपन्यास

' रागिणी ' में रागिणी और उत्तरा के जैसे चरित्रों को मेरी पीढ़ी ने कल्पना-चक्षुओं के द्वारा देखा। उत्तरा और रागिणी हमें जैसे चेतावनी दे रही थीं कि अब नई स्त्री का निर्माण हो चुका है। भविष्य में नारी किसी तरह के जुल्म अत्याचारों को कदापि बर्दाश्त न करेगी। अब तक नारी गूँगी थी। बेजुबान थी। अब उसे ज़बान की प्राप्ति हो गई है। निकट भविष्य में स्त्री हिरणी न रहेगी, वह तो बाघिन बनेगी।

मेरे शिरोड़ा निवास के काल में वामनराव जोशी के अनन्तर मराठी साहित्य के क्षितिज पर प्रो. ना. सी. फड़के जी का उदय हुआ और देखते देखते प्रो. फड़के महाराष्ट्रीय पाठकों के अत्यन्त प्रिय साहित्यकार-उपन्यासकार बन गए। उन के प्रथम दोनों उपन्यासों में की, इन्दुमति और निर्मला इन दोनों नायिकाओं को उनके जीवन में अनन्त आपदाओं ने आ घेरा।उन्हें अनगिनत संकटों का मुकाबला करना पड़ा ; तब भी उन दोनों के दुःखों का स्वरूप मूलतः सामाजिक नहीं है। दौलत एवं जादूगार इन उपन्यासों में अंकित स्त्री जीवन का चित्र देखकर हमें आभास होने लगता है कि नारी के पैरों में की शृंखलाएँ झनझनाकर टूट पडी हैं। अब उस में इतना आत्मविश्वास निर्माण हो चुका है कि जिस युवक को वह हृदय से चाहती है उस के गले में माला पहनाकर उसके साथ वह बेखटके विवाहबद्ध हो सकती है और स्वाधीनता के मंदिर की सीढ़ियों पर खड़ी हो अपने अधिकारों की माँग में नारे लगाते हुए अब वह तनिक भी नहीं झिझकेगी।

लेकिन नारी-जीवन के यह चित्र और मेरे दोस्त की लड़की की वह हृदय द्रावक—दुःख भरी—कहानी यह दोनों बातें किसी तरह आपस में मेल नहीं खाती थीं। उस अभागिनी लड़की के समान अन्य कई लड़कियाँ मेरे आँखों के सामने दिखाई देने लगीं। मेरी एक विवाहित छात्रा की राम-कहानी ऐसी ही विचित्र थी। मेरे मस्तिष्क में विचार—चक्र परिभ्रमण करने लगा। मध्यम वर्गीय स्त्री के जीवन की ओर मैं नई दृष्टी से देखने लगा—

और कुछ ही दिनों बाद इस बात में मुझे तनिक भी संदेह न रहा कि यद्यपि हरिभाऊ के युग की समाप्ति हो गई है, तब भी मध्यम वर्गीय स्त्री के जीवन में के दुःख अब तक वैसे ही है जैसे कि वे हरिभाऊ के युग में थे। यही सच है कि दुख बहुरुपिया होता है। वह नाना वेश—परिवर्तन करता है लेकिन किसी दशा में अपने शिकार का पीछा नहीं छोड़ता। हरिभाऊ के उपन्यास में के शंकर मामंजी जैसे दुष्ट ससुर आज भले ही बिरला दिखाई देते हों—लेकिन उस स्थान पर आज भ्रमरवृत्ति के शिक्षित पुरुष का निर्माण हुआ है जो कुछ ज़माने में अपना आस्तित्व नहीं रखता था। प्रौढ़-विवाह के तुरन्त बाद ही प्रेम-विवाह का समाज में रूढ़ होना अनिवार्य हीं नही, वांछनीय भी है। लेकिन हमारे समाज में अब तक प्रेम-विवाह यह घटना उतनी आसान या स्वाभाविक नहीं हो पाई है। अब भी स्त्री और पुरुष इन दोनों के बीच एक विशाल, गगन-स्पर्शी दीवार खड़ी है—जिन दृढ़मूल धार्मिक एवं सामाजिक संस्कारों के पाषाणों से इस दीवार का निर्माण किया गया है वे पाषाण इतने कच्चे इतने कमज़ोर नहीं है कि चार ठो सुधाराग्रणियों के शाब्दिक आक्रमण के कारण ढह जाएँगे। उस दीवार की रक्षा करने के लिए उसके गिर्द नीति कल्पनाओं के कँटीले तारों की चहार दीवारी बनाई गई है। उस चहार—दीवारी को फांदकर छुटकारा पाने में सफलता प्राप्त करने की अपेक्षा उन कँटीली तारों के कारण देह के रक्त रंजित होने की ही संभावना स्त्री के विषय में अधिक होती है।

इस पहलू पर मैं जैसे जैसे सोचने लगा वैसे वैसे मेरी दृढ़ धारणा होती गई कि स्त्री का नव-निर्माण तो तब ही होगा जब सर्व स्पर्शी समता का पुरस्कार करने वाली सामाजिक क्रांति अवतार धारण करेगी। पूना-बंबई जैसे शहरों की रहने वाली-खास कर धनी परिवार की एक-आध लड़की को प्रेम-विवाह में शायद सफलता प्राप्त हो जाय लेकिन साधारण मध्यम परिवार की लड़की की दृष्टि से तो अब तक प्रेम-विवाह यह काव्य में की एक मधुर कल्पना ही

है। काव्य को व्यवहार में लाने की चेष्टा अक्सर हास्यास्पद होने की संभावना होती है और किसी वक्त तो यह कोशिश हानिकर भी सिद्ध हो सकती है। मेरे दोस्त की वह अभागिनी लड़की। इस में उसका कसूर ही क्या था? उसने एक शिक्षित प्रेमी के मधु-मधुर शब्दों का अंध-विश्वास कर लिया। यौवन के उस काव्य-मय वायु मंडल में संचरण करते हुए उसे इस बात का विस्मरण हो गया कि उस युवक का ब्याह का वादा यह तो एक रस-लोलुप भँवरे का कलि के गिर्द गुंजार था। इसे वह समझ न पाई कि स्त्री के पैरों में पड़ी भांति भांति की शृंखलाएँ तो अब भी जैसी की वैसी ही हैं। अन्तर यही है कि विगत पचीस वर्षों में उन पर फूलों का अच्छादन सा पड़ा हुआ है। उन शृंखलाओं को आछिन्न करने के प्रामाणिक प्रयास में अब तक किसी को भी सफलता प्राप्त नहीं हुई है। क्या यही है न उस की ग़लती? और इतनी सी ग़लती के लिए उसे कितना कठोर दण्ड दिया गया। प्रेम-भंग की यातनाएँ, समाज में हँसी, मानखंडना, जिस भी पुरुष की प्राप्ति हो सके, उसके गले में माला पहना कर उसकी गृहस्थी का गुरुतर बोझ वहन करने की ज़बर्दस्ती......उस लड़की के उस करुण जीवन का स्मरण हो आते ही मेरी आँखों को प्रतीक रूप से एक ही चित्र दिखाई देने लगता है— इस क्षण आकाश-मंडल में उल्लसित वृत्ति से मुस्कराने वाली लेकिन दूसरे ही क्षण खन् से टूट कर पाषाण के रूप में धरती पर आ गिरने वाली तारका!!

४

स्त्री का दास्य और दलितों का दास्य। दोनों ही सदियों से हम पर प्रभुत्व जमा रहे हैं। धर्म ने इन्हें गौरवान्वित किया। रूढ़ी की छत्र-छाया में ये पले और समाज ने इन्हें पवित्रता प्रदान की। इसी दास्य ने धर्म के प्रति हमारे मन में अंध-श्रद्धा निर्माण की और उसकी सहायता से, रोने वाले शिशु को अफीम की घूँटी पिला कर उसे शान्त करने वाली गँवार माता के समान

अनगिनत अभागी दास-दासिओं के मुँह पर मोहर लगा दी, उन्हें जबर्दस्ती शान्त कर दिया। लेकिन यह शान्ति स्मशान-शान्ति थी।

'द्यूत में अपने आप को हारे धर्मराज को मेरी बाज़ी लगाने का कोई अधिकार नहीं' कहकर आर्त विलाप के साथ भरी सभा में भीष्म, द्रोण आदि की उपस्थिति में न्याय की दुहाई देने वाली द्रौपदी, 'शूद्र को तपस्या करने का अधिकार प्राप्त है ही नहीं' इस तत्त्व का स्वीकार करते हुए प्रभु रामचन्द्रजी के द्वारा चुपचाप शिरच्छेद के लिए प्रस्तुत शम्बुक.........मैंने दिल में निश्चय किया कि इस धर्म के द्वारा स्त्री और दलितों पर किए जाने वाले इन अमानुषिक ज़ुल्म अत्याचारों की प्राचीन परंपरा को जड़ से विनष्ट करना यही हमारी सामाजिक क्रान्ति का प्रधान उद्देश्य होगा। मस्तिष्क में इस विचार के आते ही चन्द्रकान्त और उल्का इन दोनों के जीवन सूत्रों को मैं अपने मन में एकत्र गूँथने लगा।

तुरन्त ही इस गोप में और एक नया सूत्र मेरे हाथ लगा। वह सूत्र था उल्का के पिता भाऊसाहेब का। अधिकांश पाठकों की भ्रम-मूलक धारणा है कि यह चरित्र अंशतः क्यों न हो आत्म-कथन पर है। इसे मैं अस्वीकार नहीं करता कि उल्का के पिता का जो नाम है वही मेरा नाम है। उनका अध्यापक का व्यवसाय था और मेरा भी वही व्यवसाय है और जिस आदर्श-वाद से अनुप्राणित होकर उन्होंने देहात में जाकर निवास किया उसकी मोहिनी का असर, जब मैं शिरोड़ा गया तब मुझ पर कुछ कुछ ज़रूर था। लेकिन इस समानता की यहीं पर समाप्ति हो जाती है। जीवन के उत्तरार्ध में व्यवहार का मुकाबला करते हुए, खुली आँखों से दरिद्रता का आलिंगन करने वाले आदर्शवादी की दशा अतीव दयनीय हो जाती है। उसका आदर्शवाद यह उसके परिवार का– कभी कभी तो उसके स्त्री पुत्रों की मामुली सात्विक आकांक्षाओं तक का दुष्मन बन जाता है। हमारा आदर्श कितना क्यों न महान रहे, मध्यान्ह समय को उसकी कोई पर्वाह नहीं। वह तो बिना भरपेट

अन्नजल के, अन्य किसी वस्तु से संतुष्ट नहीं हो सकता। हमारा त्याग कितना क्यों न विराट रहे लेकिन उस त्याग के कारण हमारी लड़की के ब्याह की चिंता कम नहीं हो पाती। इस बात में कोई आश्चर्य नहीं कि जिस समाज में भगवान मान कर रुपयों की अर्चना की जाती है वहाँ तो आदर्शवादी के माथे पर तो पत्थरों ही की वर्षा होती है। इस करुणोदात्त कल्पना से मैं कई वर्ष प्रभावित हो उठा था और इसी से— महाराष्ट्र में तिलक आगरकर के द्वारा समाज सेवा के लिए स्फूर्ति प्राप्त जो पीढ़ी थी, उस में के प्रमाणिक कार्यकर्ता की मनोव्यथा का चित्रण भाऊ-साहेब के चरित्र द्वारा अंकित करने की चेष्टा मैंने की। शायद भाऊसाहेब के स्वभाव-चित्र की धुंधली सी रूपरेखा मेरे मास्तिष्क में तब ही से थी जब मैंने 'काँचन मृग' को लिखकर पूर्ण किया था। 'काँचन मृग' में मैंने दिखलाया था कि अध्यापक का पद ग्रहण करने के अनन्तर ही नायक सुधाकर को उसके आदर्शवाद की दूसरी थोथी बाजू का दर्शन हो पाता है। यह सिद्धान्त नहीं है कि व्यवहार में भी हमेशा ऐसा ही हुआ करता है। लेकिन बीस से लेकर पचीस वर्ष की आयु का हरएक युवक कुछ न कुछ मात्रा में कवि, प्रेमी और आदर्शवादी होता है। यह जिस तरह सच है कि इन तीनों प्रवृत्ति-ओं में जीवन का उत्कट आनन्द एवं उदात्त रस संचित होता है, उसी तरह यह भी सच है कि उन में से प्रत्येक के आकर्षण ने स्वप्न जगत् में संचरण करने की यौवन-सुलभ प्रवृत्ती में ही जन्म ग्रहण किया हो। पचीसी में काव्य की रचना करने वाले अनेक लोगों का तीसी में गद्य लेखक नाते भी अस्तित्व शेष नहीं रहता। इसकी वजह और क्या हो सकती है? तब भी, कविता-वनिता के साथ हम चाहे जब भी विवाह विच्छेद कर सकते हैं। लेकिन त्याग और आदर्शवाद को इसी सहजता के साथ ठुकराना आसान नहीं है। यह दोनों भावनाऐं जीवन का शृंगार हैं और साथ ही शृंख-लाएँ भी।

कँटीले बीहड़ मार्ग को क्रमण करते हुए अपने आदर्श का पीछा करने की प्राणप्रण से चेष्टा करने के बाद आदर्शवादी को इस बात का धुंधला सा परिचय होता है कि जिसकी प्राप्ति के लिए वह इतना अथक परिश्रम कर रहा है वह अमृत का कुंभ नहीं है; वह तो है केवल मृग-मरीचिका का आभास ।—लेकिन तब भी आदर्शवादी को तो उस आदर्श का पीछा करते हुए दौड़ना ही पड़ता है चाहे उसे प्राणों पर क्यों न खेलना पड़े ? उसकी दशा, पर्वत की उत्तुंग चोटी से नीचे आ गिरने वाले शिला-खंड के समान हो जाती है । तेजी के साथ लुढ़कते हुए नीचे वाली कंदरा में बिना आ गिरे उसकी आँखों को अन्य कोई मार्ग ही नहीं दिखाई देता है । इस बात का विश्वास कर लेने पर भी कि जिस मूर्ति की कल उसने अर्चना की थी वह जाग्रत मूर्ति नहीं है, उस मूर्ति के शत-खंड टुकड़े करने के लिए आदर्श वादी का हाथ कदापि ऊपर उठ नहीं सकता । वह ठीक से समझ नहीं पाता कि उसे नष्ट भ्रष्ट कर, फेंक देने के बाद उसके स्थान पर और किस मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा की जाय । उस दशा में बेबस होकर पहली ही मूर्ति की अर्चना करना यही एक कार्य उसके लिए शेष रह जाता है और इसके अनन्तर कितनी क्यों न निष्ठा के साथ वह उस मूर्ति की दुबारा अर्चना करे, दुनिया की आँखों को तो वह व्यक्ति पागल ही दिखाई देता है । उसकी तपस्या से अब उस सामर्थ्य की निर्मिती नहीं हो सकती जिससे कि संसार भर में हलचल मच सके, एक महान क्रांति का निर्माण हो सके ! !

यौवन में आदर्श वाद के साथ ही साथ आने वाले इस तरह के अनगिनत सूक्ष्म लेकिन उत्कट दुःख भाऊसाहेब के जीवन-चित्र में प्रतिबिम्बित हो उठे हैं । लेकिन मैंने उन्हें खासकर उल्का के स्वभावचित्रण को परिपोषक पार्श्वभूमि के निर्माण के काम में लाया है । किसी भी तरह के आदर्श उदात्त स्वप्नों के जैसे होते हैं । इस तरह के सपने सत्य सृष्टि में आसानी से अवतार धारण नहीं कर पाते । और इसी से उन सपनों में आत्म विस्मृत हो

जाने वालों के भाग्य में किसी न किसी रूप में दुःख की प्राप्ति होती ही है। लेकिन वह दुःख सात्विक होता है, आत्मशक्ति की वृद्धि करने वाला होता है, मानवता की भक्ति यही मनुष्य का धर्म है, इस श्रद्धा को दृढ़तर करने वाला होता है। भोगवादियों की विजय की अपेक्षा आदर्शवादियों की हार ही के कारण मानव जीवन आज तक विकास की ओर अग्रसर होता गया है।

५

चन्द्रकान्त, उल्का और भाऊसाहेब ये तीनों चरित्र जैसे जैसे मेरे मास्तिष्क में साकार एवं सजीव रूप धारण करने लगे, वैसे ही इस उपन्यास को लिख डालने की लालसा मेरे दिल में प्रबल होती गई। कथावस्तु के लिए टिप्पणियाँ निकालने की आवश्यकता मुझे न पड़ी। स्थल एवं काल की सूचियाँ आदि मैंने नहीं बनाईं और न इस पर भी माथा खपाया कि निवेदन की किस शैली का अंगीकार करने पर उपन्यास अधिक दिलचस्प—अधिक रोचक बन सकेगा। सन १९३३ की १४ अक्तूबर से स्कूल को दीवाली की छुट्टी थी। सुबह होते ही मैं जाग पड़ा और चाय पीकर झट उपन्यास लिखने बैठा। तीन नवंबर तक मेरा यह लेखन अव्याहत जारी था। रात्री के सात आठ घंटे निद्रा में व्यतीत होते थे। दिन में दो तीन घंटे स्नान भोजनादि में जाते थे-शेष समूचा समय मैं अपने इस उपन्यास के जगत् में—यक्ष भूमि ही थी वह—संचरण करता था। लिखते लिखते हाथों में दर्द होने लगा कि सामने के वातायन से नारियल के हरे हरे पत्तों की, वायु के साथ चलने वाली रंगरेलियाँ देखने में कुछ क्षण मैं लीन हो जाता। एक आध बार हमारी बिल्ली का हिम-सदृश सफेद, सुंदर बलुंगड़ा जिसे हम सुलोच कहते थे—मेरी गोद में आ बैठता और मेरी लेखनी के साथ रेलगाड़ी का खेल खेलने लगता। दस पाँच मिनिट विश्राम कर लेने के अनन्तर, दुबारा, पहले से कहीं तेज़ी के साथ मेरा लिखना शुरू हो जाता। मैं लिखता ही जा रहा था—सुध बुध

खोकर लिखता ही जा रहा था—जैसे छोटी छोटी लहरों के थपेड़ों में मंथर गति से बहते हुए, नदी की धारा के साथ कोई बहता चला जा रहा हो। कथा-वस्तु के लिए किसी वक्त मुझे रुकना न पड़ा न कभी कहानी में कोई अजीब उलझन पैदा होने के कारण मेरी लेखनी को लड़खड़ाना पड़ा। उपन्यास लिखना जब मैंने आरंभ किया, तब 'घरीं एकच पणती मिणमिणती' इस कविता का निर्माण भी मेरे मस्तिष्क द्वारा न हुआ था। कविता बनाने की कला में मैं पहले ही टुटपुंजिया था और सन १९२७-२८ से, जब मैंने गद्य—लेखन के क्षेत्र में पदार्पण किया तब से, तो मेरे कविता-लेखन की लगभग इति श्री हो गई थी। लेकिन शायद उल्का के आरंभ से लेकर अन्त तक के वातावरण के कारण, या यह भी संभव है कि जिस काव्यात्म मनोवृत्ति में लीन होकर इस उपन्यास की सृष्टि मैंने दिल ही दिल में की थी उसके परिपाक स्वरूप भाऊसाहेब के पूर्व-चरित्र का चित्रण करते हुए उस कविता को मैं अनजाने ही लिख बैठा। यही नहीं, जिस युग का मैं उल्का में विवेचन करना चाहता था, उस युग में मराठी की कविता एवं काव्य गुणों की वृद्धि चरम सीमा को पहुँची थी और इसी से इस उपन्यास में स्थान स्थान पर कविता की पंक्तियाँ बिखेर देने की कल्पना मेरे मस्तिष्क में निर्माण हुई और मैंने तुरन्त उसे कार्यान्वित भी कर डाला।

उल्का के लेखन के बीस इक्कीस दिन किसी मधुर नशा में मतवाला बनकर मैंने बिता दिए। किसी प्रकाशक को इस बात की मैंने कानों कान खबर तक न होने दी कि मैं कोई नया उपन्यास लिख रहा हूँ। मैंने दिल में पहले ही निश्चय कर लिया था कि यदि उपन्यास मेरी मर्ज़ी के मुताबिक न बन जाय तो उन कागज़ों से एक दिन नहाने का पानी गर्म कर लूँगा। शायद इस स्वच्छंद प्रकृति के कारण, या शायद- इच्छा होने पर भी जीवन के अनगिनत झंझटों में उलझे रहने के कारण लेखक के लिए एकतानता यह चीज दुष्प्राप्य सी हो जाती है और सहसा उसकी प्राप्ति की अपुर्वाई के कारण, या शायद

लगातार तीन साढ़े तीन साल तक जिन प्रिय भावनाओं, कल्पनाओं और विचारों का स्वच्छंद नृत्य मेरे मन के रंगमंच पर मैं देख रहा था, उसे शब्द रूप में साकार करते हुए जिस उन्माद की अनुभूति मैंने प्राप्त की थी उसके कारण, उल्का मुझे अब भी अत्यन्त प्रिय है।

मेरी इस पसंद से अधिकांश पाठक सहमत हैं। लेकिन जब उनके मुँह से इस उपन्यास के पसंद- ना पसंद के विषय में विभिन्न कारण मैं सुनता हूँ तो मुझे हैरान रह जाना पड़ता है। एक बार एक कॉम्युनिस्ट कार्यकर्ता ने मुझ से कहा—" आप की ' उल्का ' ही के कारण मैं साम्यवाद की ओर आकृष्ट हुआ लेकिन आपने दुबारा ऐसा कोई उपन्यास न लिखा "। यदि उल्का के बाद के मेरे अन्य सभी उपन्यासों में मैं साम्यवाद का आवेशयुक्त प्रचार करता तो शायद यह कार्यकर्ता महाशय संतुष्ट हो जाते......लेकिन मैं ?—और मेरे अनगिनत पाठक ?

लेकिन इस विषय में और ज्यादा कुछ कहने की जरुरत ही नहीं है। उल्का की जन्मकहानी के विषय में मुझे जो कुछ कहना था उसे इस प्रस्तावना के रूप में मैंने कह डाला है। उसे पढ़ लेने के अनन्तर भी यदि कोई कहे कि यह उपन्यास केवल साम्यवाद के प्रचार के लिए ही लिखा गया है तो उसकी रसिकता उसे ही मुबारक हो। उल्का किसी भी अर्थ में राजनीतिक उपन्यास नहीं है। मेरा प्रकृति-धर्म ही राजनीतिक उपन्यासकार का नहीं है। जब से मैंने होश संभाला तब से शिरोड़ा जैसे एक छोटे से देहात में जाकर मैं अध्यापक का कार्य करता रहा और मेरे जीवन के सभी संस्कार देहात ही में हुए। इसी से, अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि मैं जनसाधारण का प्रतिनिधित्व कर सकता हूँ। उन्हीं के जीवन की समस्याओं की परछाईं मेरे लेखन में पाठकों को दृष्टिगोचर होती

हैं। लेकिन किसी तरह के 'वाद' का अभिनिवेश के साथ प्रचार करने की प्रवृत्ति और उसके लिए आवश्यक पांडित्य अथवा नेतृत्त्व इन दोनों चीजों में से एक भी, सौभाग्य से मुझे प्राप्त नहीं है। इसे मैं स्वीकार करता हूँ कि अनुभूति यह कला की जन्मदात्री-माता है- लेकिन अनुभूति का अर्थ कोरा प्रचार नहीं होता है- अनुभूति अंतर्मुख होती है और प्रचार बहिर्मुख। मार्क्सवाद और गांधीवाद इन दोनों की भूमिका और ब्यौरे में कितनी ही विभिन्नता होने पर भी साधारण मनुष्य को तो उन दोनों के द्वारा एक ही शिक्षा प्राप्त होती है और वह यह—कि इस संसार में सच्चा धर्म एक ही है—समता। इस संसार में जाग्रत देवता एक ही है—और वह है मानवता। इस लिए कि मानव धर्म का यह झंडा निरंतर ऊँचा ही रहे, सिंहासन का त्याग कर बुद्ध ने संन्यास ग्रहण किया, ईसा मुस्कराते हुए सूली पर चढ़ गया, मानव रक्त की नदियाँ बहानेवाले अशोक को इसी ध्वज ने अहिंसा का निस्सीम उपासक बना दिया। मानव के सुप्त देवत्व को इसी ध्वज ने आज तक जाग्रति प्रदान की है—उसे विकसित करने में सहायता पहुँचाई है—जिस मानव—संस्कृति की ओर देखकर हम गौरवान्वित हो उठते हैं, उसकी प्रगति, उन्नति तो इस ध्वज के आशीर्वाद ही के कारण होती है। यद्यपि हमें दिखाई दे रहा है कि आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक विषमता के कारण इस ध्वज की धज्जियाँ हो चुकी है, भोग-प्रेरित लोभ और अहंकार-जन्य साम्राज्यमद के आधीन हो संसार के प्रमुख राष्ट्रों ने बार बार मानव-जाति का निष्पाप रक्त बहाकर इस ध्वज को अपवित्र, कलंकित बनाने का जैसे प्रण कर रखा है, तब भी उस ध्वज की प्रेरकता की शक्ति कम न हो पाई है, न हो पाएगी। वह संसार के अनगिनत पीड़ित संतापित सज्जनों को स्फूर्ति देते हुए मंद स्वर में कह रहा है—उठो,—बढ़े चलो! संगठित बनो, संसार से एकरूप हो जाओ, जीवन से समरस हो जाओ। धर्म, पिपासा, अंध भोग और बधिर अहंकार के द्वारा निर्मित इन्सान-इन्सान के बीच की सभी कृत्रिम दीवारों को जनशक्ति

के संगठित बल पर गिरा दो-ढहा दो-ध्वस्त कर दो। इन्सान के द्वारा इन्सान के पैरों में डाल रखी इन शृंखलाओं को तोड़कर इनका चकना चूर कर डालो। घोर अंधकार हमारे गिर्द मुँह बाकर खड़ा है, तब भी डरो नहीं। पैरों तले के इन नुकीले पत्थरों की ओर तनिक भी न देखो! देखो ऊपर—आसमान की ओर। देखो उन टिमटिमाने वाले तारों की ओर। ये तारे नहीं हैं, ये तो मानवता की ओर देखकर सानन्द मुस्कराने वाले नंदादीप—नीरांजन हैं। इनके मंद सुशीतल किन्तु चिरंतन प्रकाश में बढ़े चलो—बढ़े चलो। आधुनिक मराठी कवियों के सिरमौर कवि केशवसुत के गीत की इन पंक्तिओं को गाते हुए बढ़े चलो—

* "गत शतकांचीं पापें घोरें
क्षालयाला तुमचीं रुधिरें
पाहिजेत रे, क्षैण न व्हा तर।"

वि. स. खांडेकर

● ● ●

* भाईयों, विगत शताब्दियों में हमने जितने भी घोर पाप किए हैं उनका प्रायश्चित्त तो हमें अपना रक्त देकर करना होगा। उठो—अब कायरता का त्याग करो और बढ़े चलो—

१

बाहर अँधेरा फैला है। बचपन में इस अंधेरे से कितनी डरती थी मैं। आंगन में हाथ धोने के लिए जाना पड़ता तो बिना दीये के जाने की हिम्मत नहीं होती थी। दीया होने पर भी दवात की चिमनी की ज्योत के साथ साथ दिल भी काँप काँप उठता। परंतु अब? कालिमा के इस अथाह सागर में डुबकी लगाकर छिपे बैठने को मन होता है। दुर्योधन छिपकर बैठा था न आखिर? ठीक वैसे ही।

कोई कहेगा, यह जीवन से ऊब गई है। बिल्कुल नहीं। प्राण लेने के समान ही प्राण देना भी मुझे पसंद नहीं। जीना चाहिए, जीते हुए खूब गाना चाहिए। ऐसी मेरी धारणा अब भी है। परंतु दुनिया कहाँ चाहती है आनंद के गाने? उसे तो रुदन के स्वरों से बहुत प्रेम है। भैरवी किसी भी समय गाने से मीठी ही लगती है ऐसा कहा जाता है। मीठी ज़रूर लगेगी। दुनिया अभी एक छोटे बच्चे के समान है। उसकी रोने की इच्छा अभी पूरी नहीं हुई है। परंतु रोना आखिर एक प्रकार का मानसिक रोग ही है न? रोग होने से पहले ही अगर उसकी चिंता की जाय तो क्या बुरा है?

परंतु चिंता की जाय, इसके क्या मानी? इसीलिए मुझे अपनी कहानी लिखने की इच्छा हो रही है। आगे चलने वाले को ठोकर लगने से पीछे आने वाला चौकन्ना होता है ऐसी कहावत है। सचमुच में ऐसा कहाँ होता है? परंतु जिस पत्थर से आदमी ठोकर खाते हैं, उसे राह से उठाकर फेंक दें तो? अहंकार कितना अंधा होता है! पच्चीस बरस की मैं एक लड़की हूँ। लड़की कहते

हि सब धर्म मार्तंड दाँत पीसकर गुस्सा होंगे। मर्दुमशुमारी के आंकड़ों से सिद्धांत बनाने वाले लोग दाँत निपोरेंगे। धर्म मार्तंड कहेंगे– 'हिंदुस्तान में आदमी की औसत उम्र है तेईस। इस दृष्टि से तो यह औरत एकदम बुढ़िया हो गई है। यह कहाँ की लड़की? अब तक तो इसे मरकर दो बरस हो जाना चाहिए थे।'

मेरी बच्ची विमल तीन बरस की है। माँ बनने पर भी मैं अभी भी यही सोचती हूँ कि मैं एक बच्ची ही हूँ। खिले हुए फूल की फिर कली नहीं बन सकती। न बनती होगी परंतु मनुष्य का मन फूल की भाँति बिल्कुल नहीं होता। वह वृक्ष की भाँति होता है। पतझड़ में वृक्ष सूखा हुआ जान पड़ता है परंतु फिर वसंत में उसे नवपल्लव फूटते ही हैं न? मेरा जीवन भी वैसा ही होगा।

तुकाराम जैसे साधु ने जो अनुभव अपने बारे में कहा—'मैंने अपना मरना अपनी आँखों से देखा।' ठीक वही अनुभव मुझे भी मिल चुका है। परंतु केवल अपना मरण देखकर चुप रहने की मेरी आदत नहीं। मरण के बाद पुनर्जन्म होना चाहिए न? मेरे मन की इस समय की सारी बेचैनी पुनर्जन्म के पूर्व का गर्भावास ही नहीं तो और क्या है?

पचीस साल की भद्र वर्गीय लड़की को आखिर अनुभव ऐसा कौन सा बड़ा हो सकता है? मुझे भी अपने बारे में कई बार ऐसा ही जान पड़ता है। इतना बड़ा रामायण और महाभारत। वह भी एक श्लोक में कहा जा सकता है। फिर मेरे जैसी मध्यम स्थिति की लड़की का जीवन ही कितना बड़ा है? यदि रामायण, महाभारत चार पंक्ति की कविता में बँध सकता है तो मेरे जीवन की बात तो शायद एक कानामात्रा या अनुस्वार से ही टाली जा सकेगी। झँगोला–फ्राक–साड़ी–पेटीकोट–शादी के सालू–वायल–बच्चे के तेल सने कपड़े–बुढ़िया नानी की सफेद साड़ी बस यही तो हैं एक लड़की के जीवन के सब स्थित्यंतर। उनके वर्णनों की क्या आवश्यकता? दर्जियों और

कपड़े के ब्यौपारियों को भी वे याद रहती हैं। 'पकाओ, परोसो और जूठन उठाओ!' यही हम स्त्रियों का नित्य का कार्यक्रम है–इसमें वर्णन करने योग्य पराक्रम कौनसा है? जीवन की सीढ़ी की सब से ऊँची पैड़ी है चार बच्चों की माँ बनना। मुन्ना—लल्ला—बिट्टन-छुट्टन—!

जीवन का अर्थ—चाहे वह किसी का भी हो–क्या केवल इतना ही है? फिर मनुष्य को बुद्धि और भावनाएँ प्रकृति ने दी ही क्यों हैं? कल ही मैंने कहीं पढ़ा—'जीवन पुष्प है।' परंतु इस पुष्प की आत्मा कौनसी है? तितली को क्षण भर रिझाने वाला मधुबिंदु? ना। प्रत्येक पल वायुलहरियों पर स्वच्छंद रूप से नाचने वाली उसकी मधुर सुगंध—उसके खिलते हुए हृदय से बाहर निकलने वाले हार्दिक उद्गार।

परंतु हार्दिक उद्गार दुनिया को कर्णकटु जान पड़ते हैं। सत्य कडुआ होता ही है। सौंदर्य जब तक झूटे ढोंग और स्वांग के पैर दबाने में दंग है, तब तक सत्य कडुआ रहेगा ही।

पर मेरे हृदय के उद्गारों का दुनिया को कुछ उपयोग होगा क्या? मुझसे ज्यादह दुनिया का अनुभव रखनेवाले आदमी क्या कम होंगे? परंतु वे गूँगे हो गए हैं। सौ में नब्बे चेहरे देखकर मुझे ईसाइयों की कब्रों की याद आती है। मानों मरे हुये मन यहाँ गाड़ रखे हैं ऐसा भास होता है। परंतु मेरा मन सिर्फ मरा हुआ नहीं है। मरकर उसका भूत बना है। नहीं तो—

आधी रात की यह भयावनी बेला! बाहर अंधेरे ने चारों ओर घेर रखा है। स्वप्नसृष्टि में मगन ही रहने के समय सत्यसृष्टि का चित्र आँकने की मुझे क्यों इच्छा हो रही है? सचमुच, यदि अंधेरे की इस काली पाटी पर बिजली की लेखनी से मैं यदि अपने जीवन का लेखा लिख सकती तो कितना अच्छा होता। दादा की डायरियाँ, उनके 'विचार तरंग', चंद्रकांत ने दी हुई शपथ, सब मुझे मानों कोंच रहे हैं—'लिखो, लिखो, उल्का, अपना जीवन लेख लिख डालो!'

बाहर अँधेरे की पूजा शुरू हुई—मेघों का घंटानाद, बिजली की चमकार के फूल, वर्षा का अभिषेक, ऐसी ही एक रात में मेरा जन्म हुआ था, ऐसा दादा कहते हैं–

२

बचपन की वैसे पूछो तो मुझे बहुत याद नहीं है। बचपन और बुढ़ापे की तुलना करते समय यह बात याद रखने लायक है कि दोनों अवस्थाओं में कुछ याद नहीं रहता। इस समय की बातें यानी औरों ने अपने बारे में कही हुई मज़े की बातें। नींद में हम क्या करते हैं या किस तरह बड़बड़ाते हैं यह आदमी को कहाँ मालूम होता है? सुनती हूँ, नींद में कई लोग अपने सिर पर अपना बिस्तर उठाकर चलने लगते हैं और कई लोग अपने पड़ोसियों को चाँटे रसीद करते हैं। बचपन में भी अपने हाथों से न जाने ऐसी कई बातें होती होंगी। नहीं कौन कहे? वे बातें आज याद नहीं हैं, यह अपना सौभाग्य ही है।

मेरे बारे में दादा ने और माँ ने बारबार कहा हुआ संस्मरण मेरे नामकरण के दिन का है। मेरा नाम क्या रखा जाय इस बारे में घर में पूरी गोलमेज़ परिषद जमी थी। उसके सभासद थे दादा, माँ और बुआ। बुआ का पाँच बरस का वसंत भी उस सभा में उपस्थित था। परंतु आधे टिकट से सफर करने वाले उस बच्चे को भी मताधिकार देने का समाजसुधार तब तक कहाँ हुआ था? माँ ने प्रस्ताव किया—'तारा नाम रखा जाय।' दादा खिल-खिलाकर हँसते हुये बोले,—'तारा! अरी, इस काली सांवली लड़की को तारा नाम से पुकारेंगे तो लोग क्या कहेंगे? कहेंगे, अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ाता है, कविता पढ़ाता है, लिखता है, और काली लड़की का नाम तारा रखता है।'

बुआ ने अपने पौराणिक ज्ञान का प्रदर्शन करते हुए कहा,—'तारा नाम

कुछ ठीक नहीं दादा ! एक तारा चंद्र का हाथ पकड़कर भाग गई। दूसरी ने सुग्रीव से दूसरी शादी कर ली—'

माँ के मर्म पर आघात करने के लिए ही बुआ ने यह कहा था। दादा ने कुछ गुस्से में ही जवाब दिया—' परंतु हरिश्चंद्र की तारा ने पति के साथ स्वयं को भी जो बेच दिया था ? '

पुराण के विष पर पुराण का ही प्रतिविष मिल गया। बुआ का मुँह बंद हुआ। परंतु भाई ने भाभी का पक्ष लिया देखकर उन्हें बहुत बुरा लगे बिना न रहा। जाते जाते उसने एक कोहनी मार ही दी—' किसकी लड़की और किसे पड़ी है। तुझे बच्चा हुआ इस लिए इतने बरसों बाद मैं आई। नहीं तो—'

छोटे वसंत ने बहुत मजेदार उपसूचना उस समय रखी।

' खुदीलाम, खुदीलाम ' कहकर वह चिल्लाने लगा। उस समय फाँसी गए खुदीराम बोस का नाम हर किसी के मुँह पर था। उस छोटे बच्चे को क्या ? बंगाल और महाराष्ट्र, स्त्री और पुरुष, इनके बीच क्या भेदभाव है यह समझने योग्य वह विद्वान थोड़े ही हुआ था।

दादा को तारा नाम विशेष पसंद नहीं था। वैसे देखा जाय तो नाम में क्या रखा है ? परंतु दादा कुछ भी हो पर थे तो अध्यापक ही। तारा हमेशा स्थिर रहने वाली, ग्रह घूमने वाले। अपनी लड़की बड़ी क्रांतिकारिणी बने ऐसी उनकी बड़ी इच्छा थी। फिर दादा को तारा नाम कैसा अच्छा लगे ? उन्होंने वैसा मत व्यक्त करने पर माँ ने कहा—' फिर रखो कुछ शनी जैसा नाम। '

' हाँ साढ़ेसाती तो अब लग ही गई है। अभी से दहेज की तैयारी करो। ' हँसकर दादा ने उत्तर दिया।

माँ को प्रिय था इससे तारा यही मेरा नाम रखा गया।

स्कूल के मास्टरों में इस नाम की तब बड़ी चर्चा हुई। किसी ने कहा—

'ऊँह, दादा, आप नये के इतने बड़े समर्थक। स्वयं पुनर्विवाह किया। और आखिर नाम रखा लड़की का वही बासी।'

दादा ने जवाब दिया—'अजी, औरतों को बासी चीज़ें रखने की आदत ही होती है।'

'परंतु आप पुरुषों का ताज़ा और गरमा गरम नाम क्या है वह भी तो ज़रा सुनूँ।'

'मैं उसे उल्का नाम से पुकारूँगा।'

'उल्का?' भूगोल के मास्टर ने आँखें फाड़कर दादा से पूछा।

'हाँ। तारा सही। परंतु वह समय पड़ने पर टूट गिरे ऐसी होनी चाहिए।'

'क्या क्या तारे आगे चलकर तोड़ेगी, देखेंगे।'

'मेरी तारा एक है। फिर तारे तोड़ने का सवाल ही कहाँ उठता है?'

'यह तारा जब झटक देगी, तब नहीं टूट पड़ेंगे क्या? दादा, तुम्हारी तारा क्या जनम भर छोटी बच्ची बनी रहने वाली है?'

यह सभी संवाद था तो मज़े का, परंतु दादा मुझे ज़्यादातर उल्का कहकर पुकारते यह झूठ नहीं है। कभी कभी उल्का का संक्षिप्त रूप 'उ' (मराठी में ऊ का अर्थ होता है जूँ।) होता था। तब ऐसे समय सहसा श्लेष न करने वाली माँ कहती, 'अच्छा नाम खोजकर निकाला है। लाड़ से लड़की सिर चढ़ बैठी ही है।'

'उसे पकड़कर मारने का काम हम उसके पति को सौंपेंगे।' दादा ने उत्तर दिया।

यह 'उ' का प्रकरण मेरे बचपन में ही था सो नहीं। जब मेरी बच्ची विमल के नामकरण का प्रश्न आया तब इतिहास की पुनरावृत्ति हुई।

मेरे पति ने सुझाया—'हीरा'

दादा धीमे से बोले—'टू'

यह ' टू ' क्या बला है, सहसा किसी की समझ में नहीं आया। सब के चेहरे आश्चर्यचकित हुए। यह देखकर दादा न हँसते हुए बोले–' एक थी उ, उसे हुई टू '। यह बच्चों वाला गाना सुनकर सब हँसी से लोटपोट हो गए। मेरी सास होती तो यह नाम बिना विरोध स्वीकार हो जाता। परंतु सास थी सौतेली। वह पहले कुछ बोली ही नहीं। आखिर में उन्होंने नाम सुझाया–विमल। और वह मंजूर भी हो गया।

नाम की कुलकथा के समान ही बिल्कुल बचपन की एक दो बातें याद करके बड़ा आनंद होता है। दादा का एक प्रिय बिल्ला था घर में। उसका नाम था ' शुक्र '। उस छोटे बिल्ली के बच्चे की सफेद मूँछें मैंने देखी। एक पड़ोस की लड़की जब अपने बूढ़े नाना दिखाकर हमेशा मुझे चिढ़ाती कि तुझे कहाँ है मेरे जैसे नाना? तब एक दिन मैं जानबूझकर उसे मेरे नाना दिखाने अपने घर ले आई।

' कहाँ है तेरे नाना? '– उसने पूछा।

' अरे, सोये हैं वे! ' मैंने रसोईघर में जाते हुए जवाब दिया।

' इधर कहाँ सोये हैं? '

' चूल्हे के पास। '

उसे मेरी बात का कुछ भी अर्थ समझ में नहीं आया। मैं चूल्हे के पास गई और वहाँ गठरी बने पड़े शुक्र्या को उठाकर कहा– ' यह देख मेरे नाना! कैसी हैं इनकी सफेद सफेद मूँछें! '

उस सहेली ने कई दिनों तक मुझसे मौन रखा था।

शुक्र्या की एक दूसरी बात भी ऐसी ही है। बचपन की भोली भाली भावना। मेरा बदन ज़रा भी गर्म होता तो माँ समझती मुझे नज़र लग गई है। दादा सुधारक थे; उन्होंने माँ से पुनर्विवाह किया था, यह सच है; परंतु अन्य सभी बातों में कितनी भी क्रांति हो तो भी माँ का कोमल हृदय कहाँ बदलता है? उसमें थी मैं तो माँ की इकलौती एक लाड़ली बेटी। मेरी पीठ पर

दो तीन भाई होकर मर गए थे। इस कारण से कभी वह क्रोध से 'बाई बड़े गुणवाली। पता नहीं क्या जन्म से ही पैरों का गुण लाई है' ऐसा कुछ कहती थी। मेरे पीछे जो भाई बहन हुए वे जियें इस अंध-धारणा से किसी घाट पर की स्त्री के कथनानुसार उसने मेरी पीठ पर एक दाग़ भी दिया था। इस मामले में मेरे दादा बहुत बिगड़े और वह दाग भी जल्दी अच्छा नहीं हुआ परंतु माँ को लड़का नहीं हुआ।

इसी नज़र का प्रयोग मैंने एक दिन शुक्रे पर किया। कहीं चूहे का बच्चा या न जाने क्या उसे मिल गया था। बिल्कुल कुंभकर्ण की भाँति चूल्हे के पास वह बैठा था। और मेरा गुड्डा तो शादी करने जाने के लिए बिल्कुल अड़ गया था। गुड़िया की माँ ने सब तैयारी कर ली थी। 'पी पी पी पी' बैंड भी बजने लगा। परंतु घोड़े के बिना दूल्हा जाय कैसे? 'बिल बिल' कहकर मैंने शुक्रे बिल्ले को बहुत पुकारा और आखिर शादी की मिठाइयों में से लड्डू का टुकड़ा और दूसरी मिठाइयाँ उसके मुँह जा लगाईं। तो भी मुआ उठा ही नहीं। ज़रा भी नहीं हिला। एकदम मेरे मन में आया कहीं नज़र नहीं तो लग गई इसे। माँ रसोई घर में नहीं थी। मैं तिपाई उठाकर उस पर खड़ी हो गई और अलमारी में से नोन और राई लेकर शुक्र्या की नज़र उतारी। राई की कड़कड़ाहट होते ही शुक्र्या ने जो छलाँग भरी, तो पास के कमरे में मेरी समधन बोली 'ओ हो, शायद तोड़े की बंदूक चलाई गई है। दूल्हे का घोड़ा उछल पड़ा है शायद। अब संभालो उसे।'

शैशव की स्तुति कवि व्यर्थ नहीं करते। वेदान्ती लोग जीवन को स्वप्न की उपमा देते हैं। परंतु सच कहे तो बचपन एक मीठा सपना है। यह मीठा सपना जीवन भर नहीं टिकता। क्यों नहीं टिकता भला? इस मीठे सपने में से जग कर भयावनी रात में घड़ी की टिकटिक और झींगुरों की झनकार सुनते हुए और इस करवट से उस करवट पर रात भर तलमलाते हुए क्यों लेटे रहना पड़ता है? सचमुच, आजीवन मनुष्य मन से छोटे बच्चे की भाँति क्यों

नहीं रहता ? छोटे बच्चे का मन ही बड़ा होता है। है न ? चाँदनी के समान बाल मन में भी सादी चीज़ों को सुंदर स्वरूप प्राप्त होता है। परंतु व्यवहार की कड़ी धूप में ? व्यवहार ! वामन के तीन पगों ने त्रिभुवन व्याप्त कर लिया। यह चार अक्षरों का बौना शब्द भी वैसा ही है, उसके एक एक अक्षर में एक एक दुनिया छिपी पड़ी है। व्यवहार— स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल और नरक।

दादा की वह प्रिय पंक्ति मुझे सदा याद आती है—' नर ने कितना हीन किया नर ! ' (What man has made of man)

३

बचपन की बातें सागरतट के सीपों के समान होती हैं। चाहे जितने चुन लो। बाज़ार में उनकी कौड़ी जितनी भी क़ीमत नहीं। परंतु दिखाई देते हैं कितने सुंदर !

दादा की ट्रेनिंग में मैं बड़ी हुई इस लिए, या शायद जन्मतः मेरी बुद्धि वैसी हो, बचपन से ही मैं विचित्र प्रश्न पूछने में बहूत तेज़ थी। तुलसी का विवाह मुझे बहुत अच्छा लगता। गुड्डे गुड़िये की शादी से तुलसी विवाह का ठाठ बहुत बड़ा था। गन्ने, गँडेरियाँ, चाड़ा खीलें, पुरोहितों के मंगलाष्टक (विवाह मंत्र) न जाने कितनी कितनी मज़ेदार चीज़ें उसमें रहती थीं। परंतु प्रतिवर्ष यह विवाह देखकर मुझे न जाने क्यों बड़ा बुरा लगता। हमारे आँगन की तुलसी के पास ही एक ऊँचा ' माड़ ' (नरियल का पेड़) था। तुलसी के विवाह की तैयारी करते हुए पुरोहित जी से मैं पूछती ' इस माड़ की क्यों नहीं शादी करते ? ' ऊँचे नरियल को सुपारी का पेड़ बड़ी अच्छी दुलहिन सजेगी ऐसा विचार मन में तब आ गया था।

पुरोहित जी ने पान से रंगे मुँह को खोलकर जवाब दिया—' हः हः ताराबाई, तुलसी देवता है देवता ! माड़ सादा पेड़ है। '

माड़ सादा पेड़ और तुलसी देवता। माड़ का उपयोग तुलसी से कहीं अधिक नहीं है क्या? कहाँ तुलसी के वे नाखून बराबर छोटे छोटे पत्ते और कहाँ वे माड़ के हाथ हाथ लंबे पत्ते। और तुलसी को कहाँ लगते हैं कच्चे नरियल। मेरे बाल मन में किन किन विचारों की भीड़ जमा हो गई होगी यह आज निश्चित नहीं कहा जा सकता परंतु देवता के संबंध में मेरी आदर भावना को पहला धक्का उस रोज़ पहुँचा। तुलसी देवता। और माड़—केला—काजू—आम यह सब पेड़। तुलसी देवता। और जूही — मोगरा — ओटोमोहनी यह सब बेलें। जो लोगों को कुछ देता नहीं, उलटे उन से अपनी पूजा करा लेता है वह देवता है। फल मीठे लगते हैं, फूल सुंदर दिखाई देते हैं। परंतु ये फल फूल जिन वृक्षों को लगते हैं, कोई उन्हें पूजता नहीं और न उन की शादी ही करता है।

और गए पंद्रह वर्षों से यही चीज़ मेरे अनुभव से पुष्ट हुई है। केवल पेट के लिए तोतारटन्त करने वाला ब्राह्मण भूदेव, और प्रत्यक्ष भूमि की सेवा करके अन्नपूर्णा को अवतरित करने वाला किसान कुनबी। नौकरी के लिए सम्पादित की हुई पदवी या उपाधि देवता। वहाँ सच्चे ज्ञान को पूछता है कौन? काउन्सिलों से लगाकर देहाती स्कूल कमेटियों तक जिनकी पूजा होती है और सम्मानपूर्वक बैठाए जाते हैं वे पैसे वाले लोग। दादा जैसे स्वार्थत्यागी निर्धन अध्यापक का काम नहीं है यह। साहूकार देवता है। इसी लिए तो उसके दरवाज़े पर भक्तों की भीड़ लगी रहती है। पति पत्नी में देवता पन का सारा ठेका है पति का। परंतु पत्थर जब टाँकी के घाव सहता है तब देवता बनता है यह कहावत सही मानें तो टाँकी के घाव सहने पड़ते हैं सब पत्नी को अपनी पीठ पर, और हृदय पर भी। कहते हैं प्रेम देवता है—

छिः। तुलसी के पेड़ से मैंने सीधे आसमान ही छू लिया। दूसरे की चिठ्ठी न पढ़ने का निश्चय मन में करने पर भी आँखें चुराकर उस में से चार हरूफ़ पढ़ते ही हैं न? आगे की बातें भूलकर केवल बचपन के बारे में लिखूँगी

ऐसा निश्चय करने पर यही होता है। हाँ, उस तुलसी विवाह की एक दूसरी मजेदार बात मैं कहना भूल ही गई। रात को भोजन के समय मैंने सहज माँ से कहा–' माँ तुलसी का ब्याह हर साल क्यों करते हैं ? ' माँ ने अपने विधवा विवाह के कारण कितना कुछ इस देहात में नहीं सहा था इस की कल्पना मुझे उस छोटी उम्र में कहाँ से होती ? मेरे उस प्रश्न से उस के ज़ख्म पर की पपड़ी जैसे निकल गई। मुझे वह भात परोस रही थी – उसने मेरी ओर ऐसी दृष्टि से देखा मानों चूल्हे में के अंगार हों। परंतु चूल्हे पर के दूध की भाँति मेरी जिज्ञासा भी बिल्कुल उबल रही थी। मैंने ढीठ होकर पूछा–' तुलसी का पति क्या हर साल मरता है ? ' माँ ने गुस्से में हाथ की करछुल मुझ पर फेंकी। अच्छा ही हुआ कि उस करछुल का एक सिरा मेरे सिर से छू गया, वर्ना कहीं आँख में अगर वह गया होता तो ? आँख फूटकर मेरा विवाह एक बार भी संभव न होता।

माँ का यह क्रोध देखकर दादा ने कुछ, डाँटकर कहा–' तुम में कुछ मनुष्यता है या नहीं ?— '

माँ का स्वभाव तब बहुत ही क्रोधभरा था। दादा अब भी हँसी में कहते हैं कि जमदग्नि, विश्वामित्र और दुर्वासा यह तीनों माँ के नामकरण के दिन उसे आशीर्वाद देने के लिए जानबूझ कर इकठे आए थे।

उस दिन से मैं माँ से जितना सँभलकर और तौल तौल कर बोलने लगी, उतना ही दादा से बोलते समय मेरी जीभ पर संयम न रहता। समुद्र के एक किनारे ज्वार शुरू हो जाने पर दूसरी ओर भाटा शुरू होता है, न जाने ! परंतु मेरे मन की यही बात हुई। माँ पर से मेरा मन जैसा हट गया— और वह मन उड़ गया यह एक दृष्टि से अच्छा ही हुआ। माँ के उस घोंसले में अटके रहने के बदले दादा के इस अथाह आकाश में मैं स्वच्छंद उड़ने लगी।

दादा का हृदय था कवि का। पाँच बरस की बम्हन की छोटी सी लड़की

से लेकर पचहत्तर बरस के बावदू तक वे किसी से भी बड़ी सहजता, विनोद और आत्मीयता से बोलते। एक दिन माँ ने सूप खरीदा और वह गोबर से लीपकर सूखने के लिए आँगन में रखा। पहले कोरा सूप कितना सुंदर दिखाई देता था। परंतु गोबर से लिपटा वह गन्दा दिखाई दिया। मैंने दादा से पूछा 'सूप लीपा नहीं तो क्या होगा ?'

'अनाज गिर पड़ेगा उस में से।'

'परंतु कोरा सूप कितना सुंदर दिखाई देता था।'

दादा ने कितनी देर तक मुझे सूप लीपने की आवश्यता पर व्याख्यान दिया। परंतु नवीनता पर रीझे हुए मेरे बाल मन को वह बात कहाँ से जँचने वाली थी। उस समय मुझसे बोलते बोलते उनका स्वर किंचित् गदगद हो गया था ऐसा मुझे अभी भी लगता है। लगता क्या है, उस समय के उनके 'विचार तरंग' (दादा की डायरी) का यह उद्धरण पढ़कर मेरे मत का निश्चय हुआ।

'—आज उल्का ने पूछा, कोरे सूप को क्यों लीपते हैं ? मैंने उसे समझाने का यत्न किया। परंतु एक अंधा दूसरे अंधे को कैसे राह दिखाए ? यहाँ वय का क्या उपयोग ? अंधा वय से बड़ा हो जाने से उसे दृष्टि थोड़े ही मिल जाती है।

'आदर्श का सूप व्यवहार के गोबर से लीपना पड़ता है यही सच है। यह उपमा किसी को हास्यास्पद जान पड़ेगी। आकाश और नक्षत्र जैसी सुंदर बातें छोड़कर सूप और गोबर के उदाहरण लेने में कविता नहीं है यह मैं भी जानता हूँ। परंतु यह कल्पना की उड़ान का प्रश्न नहीं। कल्पना है हवा, अनुभव है पारा। वह इकठा करना मुश्किल है। घर पर, आरामकुर्सी पर पड़े पड़े कल्पना करने जैसा वह सहज नहीं। परंतु अनुभव का वज़न कल्पना से शत बार अधिक होता है।

'आज बराबर दस वर्ष हुए—गड़करी (राम गणेश गड़करी–महाराष्ट्र के

विख्यात नाटककार) का और मेरा वादविवाद हुआ। रात बीत गई, पर विवाद नहीं समाप्त हुआ। लेखन या कर्म ? गडकरी ने विधवा विवाह पर नाटक लिखा था। मैंने प्रत्यक्ष विधवा विवाह किया। गडकरी का मान सर्व महाराष्ट्र में विख्यात हुआ। परंतु मैं केवल कोंकन के एक कोने में 'कोन नहीं करेगा विधवा से ब्याह, विधवा सुंदर, रंगीन हो, बस' ऐसी गन्दी फिकरेबाज़ी का शिकार बना बैठा हूँ।

'मैंने क्या रूप के लिए विधवा विवाह किया ? मेरी पत्नी गोरी, सुंदरी है सो उस में मेरा क्या अपराध है ? 'विधवा विवाह के लिए प्रस्तुत' यह बंबई के विधवाश्रम का 'ज्ञानप्रकाश' में विज्ञापन देखकर मैंने पूछा। विदर्भ के एक सब जज ने भी पूछ ताँछ की। सुधारक केवल सुस्वरूप विधवा से ही पुनर्विवाह करते हैं इस आक्षेप का उसे खंडन करना था। मुझे सिर्फ पुनर्विवाह करना था। कोयले में का हीरा उसने पसन्द किया और यह सममुच का मानिक मेरे हिस्से में आया। और इसी से मैं जनता की दृष्टि में चोर साबित हुआ।

'कॉलेज में जब साथ साथ पढ़ते थे तब गडकरी और मैं स्पर्धा से कविता लिखते थे। गडकरी विख्यात हो गए, और मैं ? कीर्ति केवल मुर्गे के सिर पर का तुर्रा है यह क्या मैं नहीं जानता ? परंतु जानना और करना इस में ज़मीन आसमान का अन्तर है। मनोरंजन का नया अंक खोलकर गडकरी की कविता पढ़ने से पेट में कैसे होता था यह कह नहीं सकता। मैं भी उसी प्रकार अध्ययन करता तो संभव है मुझे भी ऐसी कीर्ति मिली होती। परंतु समर्थ विद्यालय जैसी आदर्श शालाएँ स्थापित करने के उद्देश्य से मैं इस देहात में आया और आज एक सरकार द्वारा स्वीकृत स्कूल में अध्यापक का काम कर रहा हूँ। मेरे साथी छूट गए। किसी ने वकील बनकर बंगले बनाए, किसी ने सरकारी नौकरी कमाकर ज़मीन-इस्टेट बना

ली। मैं वही तीस रुपये माहवार पर 'We are seven' पढ़ाते हुए या अफ्रीका में कितने बंदरगाह हैं यही पूछते हुए बैठा हूँ।

'बिना लीपा सूप अच्छा जान पड़ता है। आदर्शवादी भी ऐसा ही होता है न? दंडकारण्य में राम चौदह बरस बाद गए तब उन्हें जंगल का रूप पूरा बदला हुआ जान पड़ा। परंतु दस वर्ष के भीतर ही मेरे अंदर इतनी बड़ी क्रांति हो गई यह देखकर मुझे डर लगता है। मेरा त्याग दिखावटी नहीं था। परंतु समुद्र में जाकर सोना फेंक देना इसे दान नहीं कहते। पीछे मुड़कर देखता हूँ तो समाधान नहीं है, वर्तमान में सुख नहीं। आगे देखने पर हृदय में एकदम धुकधुकी होती है। तीस रुपये माहवार कमाने वाले मुझ जैसे मास्टर को एक लड़की भगवान ने दी, इसके लिए भगवान का मुझे कृतज्ञ होना चाहिए, यह सच है। परंतु यह लड़की भी अखिर कैसे व्याहूँ? अलग अलग उपजातियों में विधवा विवाह के बाद प्राप्त लड़की, नाक आँख ठीक ठिकाने से होने पर भी रंग से काली साँवली! चाहे अन्य जातियों में इतना न हो, फिर भी हमारी उपजाति में दहेज का मान इतना बढ़ा है जैसे उत्तर भारत की गर्मी। जमाई ने दहेज का आँकड़ा कहा कि ससुर को मानों लू लग जाती है। उसमें भी हमारी जाति कितनी छोटी। मेरी लाड़ली उल्का का कल्याण करने की शक्ति मेरे शरीर में कहाँ से होगी? ना, सिर कैसा सुन्न हो जाता है ऐसे समय! कॉलेज का अध्ययन इंटर में ही छोड़कर इस देहात में जिस दिन आया उस दिन लिखी कविता गुनगुनाता हूँ और क्षण भर समाधान जान पड़ता है—

५ "घरिं एकच पणती मिणमिणता
म्हणुं नको, उचल, चल लगबग तो! ॥ धृ ॥
अगणित बांधव बघ अंधारीं
फिरे रान! भय भवतीं भारी
चरणीं जिवाणू! भरे शिराशिरी

यमदूत—न कीटक—किरकिरती !

काळोखाच्या भयाण लाटा

उठती फुटती बारा वाटा

फेंस पसरला सारा कांठा

कुणि म्हणो तारका लुकलुकती !

दिवे विजेचे धनिकमंदिरीं

प्रकाश पाडिति परोपरी जरि

स्नेहशून्य ते सदा अंतरीं

कां करिसि तयांची शिरगणती ?

अखंड नंदादीपज्योत

दगडी देवा सोबत करिती

---

८ ' घर एकहि दीपक मंद ज्वलित—

मत कहो, चल उसे उठा त्वरित !

तम में खोए भाई अनगिन,

भय भारी, चहुँ ओर घन विजन,

पदतल सर्प, कम्पमय है तन,

यमदूत ? नहीं झींगुर अगणित !

तम की भयावनी यह लहरें

उठतीं बारह दिशि वे फहरें

फेन किनारे फैले गहरे,

चाहे कह लो तारा ज्योतित !

विद्युद्दीपक धनिक महल में

प्रकाश करते यद्यपि तल में

स्नेहशून्य चिर रहते दिल में

नच बाहेरी क्षणभरि येती
अप्सरा विलासी, नसति सती !
धांव म्हणुनि तव घेउनि पणती
हृदय नाचुं दे तिजसांगातीं
सोन्याचें घर—दिसते माती
रे पाहसि मागें वळुनि किती ?
पहा पुढें—या दीन लोचनीं
रविकिरणांचें स्मरण होउनी
आशा नाचे, ज्योत दुज्या क्षणिं
जरि विझे कोण नारि करी क्षिति ?"

क्यों उन की संख्या गिनो अमित ?
अखंड नन्दा-दीप ज्योति विलक्षण
रहती पत्थर के ईश्वर संग
बाहर आती नहीं एक क्षण
अप्सरा विलासी – सती न श्रुत !
दौड़ो अपना दीपक लेकर
उसके संग नाचे तव अन्तर
मिट्टी लगता सोने का घर
क्यों मुड़कर देख रहे विचित ?
आगे देखो, दीन नयन में
रविकिरणों का स्मरण हो उन्हें
आशा नाचे अगले क्षण में
ज्योति बुझे तो कर चिंता मत !

परंतु कविता भी आख़िर वही बिना लीपा हुआ कोरा सूप ही तो है ।

४

कोई कहेगा कि मैं दादा की जीवनी लिखने बैठी हूँ। उनकी डायरियाँ और विचार तरंग एकत्र करने पर, सचमुच बड़ी अच्छी जीवनी होगी। वह काम मैं आगे कभी करूँगी। परंतु मेरी जीवन कथा में उनका हिस्सा बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण नहीं है क्या? चित्रकला में पार्श्वभूमि को कितना महत्त्व देते है। फसल बोने से पहले अज्ञानी खेतीहर भी ज़मीन की उत्पादन शक्ति देखता है। फिर मेरे पिता, अध्यापक और स्नेही यह तीनों स्नेहमय रिश्ते जिन में एकत्रित हैं, उन दादा के बारे में लिखते समय मैं अपना हाथ अगर नहीं रोक पाती तो उस में आश्चर्य कैसे?

बालपन की स्मृति हज़ारों मोगरे के फूलों जैसी होती है। उसमें मोगरे के फूलों की गन्ध चाहे न हो परंतु एक एक गुच्छ कितना सुन्दर होता है। परंतु ऐसी स्वतंत्र स्मृतियों से औरों को क्या आनन्द आएगा? मेरे जीवन नाटक में जो पात्र बार बार आए, उन्हीं के बारे में लिखना अधिक उचित होगा। अब पुराने दशावतारी नाटक देखने गाँव के लोग भी नहीं जाएँगे। नए ढंग के नाटक ही लोगों को चाहिए।

मेरे जीवन नाटक के पहले अंक के आरंभ में प्रवेश करने वाला चरित्र है—निरा। उसका घर हमारे यहाँ से बहुत दूर नहीं था। 'गो निरग्या' कहकर उसकी माँ कोंकनी बोली में उसे सवेरे शाम पुकारती सो पुकार हमारे घर में भी सुनाई देती। मेरे नामकरण के सम्बंध में जो काव्य-शास्त्र-विनोद पूर्ण वार्तालाप हमारे घर में हुए थे वैसे उसके नामकरण के समय निश्चित नहीं हुए होंगे। सुंदर बंगाली नाम उसका रखा जाय इतने सफेद-पोश मध्यम वर्गीय उसके माँ बाप थोड़े ही थे। उन्होंने प्रचलित नाम चुना और अपनी लड़की का रखा। परंतु कितना सार्थक था वह नाम। 'माड़' से जो शराब खींचते है उसे कहते हैं माड़ी। यह माड़ी जब शुद्ध स्थिति

में होती है, तब उसे कहते हैं 'निरा'। निरा का बाप हमारी पंचक्रोसी में बड़ा विख्यात रेंजर था। बन्दरों को चाहे पेड़ों से कुछ भय हो, परंतु उसे? नहीं। वह पास के बगीचे में जाकर माड़ के पेड़ों पर जब चढ़कर जाता तो मैं उसे जानबूझकर देखने के लिए जाती। बाल मन को साहस प्रिय होता है इसलिए होगा, परंतु मुझे उस समय दादा पर बहुत गुस्सा आता। मोटी मोटी किताबें लेकर वे हमेशा पढ़ते रहते थे। परंतु उन्हें कहाँ आता था ऊँचे माड़ के पेड़ों पर चढ़ना? मुझे कई बार लगता कि अगर दादा निरा के बाप की तरह माड़ पर चढ़ सकते तो मैं भी उनकी पीठ पर बैठकर ऊपर गई होती। किसी चाँदनी रात को मैं उन्हें ऐसे ऊँचे माड़ के पेड़ पर चढ़ने के लिए कहती और फिर चाँदनी में तारिकाओं के समुद्र फेन, इतने सारे मैं चुनकर लाती कि–

अब वह कल्पना पागलपन सी जान पड़ती है। उस समय तारिका खचित आकाश हरसिंगार के पेड़ की तरह लगता। एक बार एक तारा टूटते हुए मैंने देखा। मुझे सचमुच लगा कि किसी ने इस पारिजातक के पेड़ को हिलाया और वह फूल गिर पड़ा। मैंने दादा से इसके बारे में पूछा तो वे बोले–'उल्का कहते हैं इसे।'

'कहाँ जाती है यह उल्का?'

'धरती पर आती है वह!'

'क्या वह अकेले ही आती है? शेष तारिकाएँ क्यों नहीं आतीं?'

'बाकी तारिकाओं को आसमान में चमकते रहना अच्छा लगता है।'

'इस क्यों नहीं पसन्द है यह?'

'उसे लगता है–सिर्फ चमककर क्या करना है? अंधेरी रात में अपने प्रकाश में किसी को कोई लाभ तो होता नहीं। धरती पर के फूलों का उपयोग है। पत्थरों का उपयोग है। परंतु अपना जीवन व्यर्थ है, ऐसा उसे लगा।'

'धरती पर आकर क्या बनती है वह ?'

'पत्थर बनती है—' माँ अन्दर से गरजी। उसने यह सब संवाद सुना था। दरवाज़े में आकार वह गुस्से से बोली—तारा टूटते हुए देखना बहुत अशुभ होता है। क्या है बेचारी लड़की के ललाट में न जाने—'

'लड़की के ललाट में क्या होगा? बचपन में गोंदना, आगे चलकर ऐती अक्षत—और उसके आगे रसोई और बचा बची।'

दादा के उस भाषण ने आग में तेल का काम किया। माँ गुस्से से बोली 'उतना भी कम से कम भाग में हो तो बहुत है।' उस रात सोने तक माँ मुझसे एक अक्षर भी नहीं बोली। परन्तु मुझे जितने सपने दिखाई दिए वे सब थे उल्का के बारे में। मेरा भी नाम उल्का ही तो था। आखि़र सपने में तो मैं ही आकाश से धरती की ओर जा रही हूँ ऐसा मुझे लगा। और डर के मारे पसीने पसीने होकर मैं जग पड़ी।

माड़ के ऊँचे पेड़ पर चढ़ने वाले निरा के बाप पर से इस बात की याद आ गई। उस समय मैं अभिमान से झूठ कैसे बोल गई थी यह याद आने पर अभी भी हँसी आती है। केंचुल गिरने पर साँप वह पूरी तरह शरीर से उतार देता है। परंतु वह जब तक गिर नहीं पड़ती उसे कितनी प्रिय लगती है। मेरे साथ निरा की तरह इंदु नाम की एक अमीर सहेली थी। वह धनी व्यापारी की लड़की थी। सांगली में उसका मामा मुनसिफ़ या ऐसा ही कुछ था। दीवाली में माँ के साथ वह उधर गई थी। वापिस आने पर वह वहाँ की रसभरी बातें सुनाने लगी हमें। साँप की तरह भागनेवाली रेल-गाड़ी, उसका हुक्का पीने वाला इंजन, हमारे ब्रह्मेश्वर के देवालय से भी बड़ा गणेश का मन्दिर, और वहाँ के मन्दिर की पैड़ियों में रुपये पड़े हैं ऐसा कहते हैं। कच्ची मूँगफली भी उसने खाई थीं वह कह रही थी। मूँगफली की फलियाँ मटर की तरह पेड़ को या बीन्स की तरह बेल में नहीं लगतीं, वह तो प्याज की तरह जमीन में रहती है, वहीं ऊगती है, एक नहीं, दो नहीं,

ऐसे तो आश्चर्य के बाद आश्चर्य हमारे कानों पर आते थे। अंततः इंदु ने मुझे छोटा दिखाते हुए कहा–' मैं तो हाथी पर भी बैठ आई हूँ। '

हाथी तब तक मैंने केवल चित्र में देखा था। ' एकदंत उसका नाम है।' इंदु ने कहा ' एक ही दाँत है उसे। मामा मुझे ले गए थे–'

' एक ही दाँत है न ? अरी, कहीं का कोई बूढ़ा हाथी होगा। ' मैंने ईर्ष्या होने से कहा। हाथी को आदमी के बराबर ही दाँत होने चाहिए ऐसा मेरा उस समय विश्वास था।

' उसे नारियल देने से आधा तो वह खा जाता है, आधा वापिस दे देता है। '

मुझ से रहा न गया। मैंने कहा–' उँह ! तू तो हाथी पर बैठकर आई है। परन्तु मैं तो माड़ पर चढ़कर आई हूँ माड़ पर ! वहाँ से तो समुन्दर पार का भी दिखाई देता था, समझी ? रुपये पर राजा होता है न खुले सिर वाला, वह भी मुझे दिखाई दिया। और ज़रा ऊपर पहुँचने पर तारों के गुच्छे मेरे हाथ लगे। मैं आसपास की कई सीपें बटोर कर लाई हूँ। '

इंदु को कुछ समय के लिए क्यों न हो, यह सब सच जान पड़ा, इस पर उसे विश्वास हुआ। माड़ पर चढ़कर आकाश के सींप चुनने की कल्पना उसी उम्र में जँचती भी है। तारे हम से लाखों योजन दूर हैं यह बात जब हमने किताब में पढ़ी तभी से हमारी कल्पना का जादू नष्ट हो गया। ज्ञान में सुख है, कहते हैं। परन्तु इस ज्ञान से तो हमारा सुख नष्ट हो गया, ऐसा मुझे कभी कभी क्यों लगता है ? दादा की मैं लड़की हूँ इतना ही मेरा कवित्व से सम्बंध है। पूरे जीवन में मैंने शायद एक ही कविता लिखी हो फिर भी तारों वाली यह झूठी कहानी याद आते ही टामस हूड की ये पँक्तियाँ मेरे होटों पर गुनगुनाहट बनकर फिर से आ जाती हैं :–

I Remember, I Remember
The fir-tree dark and high
Its slender top
Seemed to touch the sky.
But now it's little joy
To know that I am far from heaven
Than when I was a boy.

निरा और मैं साथ साथ स्कूल में जाती थी। उसके वे बिना तेल के रुखे बाल, माँ ने कहीं से माँगकर पाई हुई चोली का बनाया पोलका और नीचे पेटीकोट के अभाव में किसी तरह शरीर से लपेटा हुआ धोती का फटा हिस्सा— यह देखकर मुझे क्षण भर न जाने कैसा जान पड़ता। परंतु उसी समय मुझे अपनी पोशाक की ओर ध्यान जाते ही बड़ा अभिमान जान पड़ता। मेरी पीठ पर लटकने वाली लम्बी वेणी, महीन कपड़े का पोलका चुन्नटदार नाज़ुक पेटीकोट, इस ठाठ से मैं शाला में जाती थी। एक दिन दोपहर को हम दोनों शाला जाने के लिए चले। मेरी पीठ पर कुछ काट रहा है ऐसा मुझे जान पड़ा। बाहर से निरा को कुछ नहीं दिखाई दिया। पेड़ की छाया में बैठकर मैंने पोलका निकाला। एक बड़ा सा कीड़ा उस में मिला। निरा ने कीड़ा तो उठाकर फेंक दिया। परंतु पोलका मुझे वापिस देते समय उसने उसे बहुत ज़ोर से कसकर अपनी मुट्ठी में भींचा। मुझे अचरज लगा। परन्तु बच्चे जिस प्रेम से बिल्ली का छोटा सा बच्चा पेट के पास पकड़ रखते हैं उसी तरह उसने वह पोलका पकड़ रखा था।

'मोव मोव आसा नाय गो?' (कोंकणी भाषा का वाक्य। अर्थ—'कैसा नरम नरम है, है न?') मेरी ओर आनन्द से देखकर और उस पोलके पर से हाथ फेरती हुई वह बोली। प्रसूती के बाद मेरी विमल को मैंने पहिली बार जब स्तन पान कराया तब बचपन का यह दृश्य मेरी आँखों के सामने स्पष्ट उपस्थित हुआ। उस समय भी निरा का पोलके के प्रति प्रेम

देखकर वह उसे मैं दे डालूँ ऐसा मुझे लगा था। परन्तु माँ यह बात नहीं चाहती। उस दिन शाला में मेरा पढ़ाई में ज़रा भी चित्त नहीं लगा। शाम को घर लौट आने पर मैंने दादा से पूछा "निरा को मेरे जैसे पोल्के क्यों नहीं मिलते ?'

'उसका बाप गरीब है इस लिए।'

'क्यों गरीब हुआ वह ?'

मेरे प्रश्न का कोई उत्तर दादा ने नहीं दिया।

५

दादा ने मेरे प्रश्न का उत्तर न दिया हो ऐसा वह पहिला ही अनुभव था। मेरे स्वभाव के अनुसार मैं तो उन्हें पूछती ही जाती। परन्तु माँ ने झट से कहा–'निऱ्या को भगवान ने सुंदर रूप दिया है। तुम्हें कहाँ है वह रूप ?' माँ के इस बोलने से सारा रंग ही बदल गया। निरा थी कुरवाड़े (हीन जाति) की लड़की, परंतु मुझ से अधिक गोरी और सुन्दरी थी। उससे तुलना कर के जब कोई मेरे रूप की न्यूनता का उल्लेख करता तो मैं बिल्कुल मायूस हो जाया करती। और अब तो माँ ने ही दोष बताया था।

दूसरे दिन निरा की फजीहत करने का मौका मुझे मिला। इंदु मेरी तरह निरा से मिलजुल कर नहीं रहती थी। इसलिए मैंने जानबूझ कर इंदु से कहा–'शनिवार दोपहर हमारे यहाँ खेलने के लिए आएगी ? तुम, मैं और निरा—'

निरा की ओर देखकर नाक भौं चढाते हुए इंदु बोली–'मैं नहीं आऊँगी जी, मैं तो माँ के साथ मन्दिर जाऊंगी।'

थोड़ी देर बाद वह धीमे से मेरे कान में आकर कह गई 'अरी, वह हल्की जात की है।'

हल्की जात !

मुझे पहिले कुछ अर्थ ही समझ में नहीं आया। इंदु ने 'बंदे' यह शब्द पटिया पर लिखकर बताया। परन्तु उस शब्द से भी मेरी पहेली नहीं उलझी। आखिर इंदु ने मुझे धीमे से मंत्र दिया—'तुम्हारी नानी की शादी हुई थी — यह पूछना उसे।' निरा का अपमान करने का धुंधला इरादा मेरे मन में मंडरा ही रहा था। उस बात को पुष्टि मिली। मैंने झट से उसे कहा—'तुम्हारी नानी का ब्याह हुआ था क्या निरा ?'

निरा की आँखें गुंजा की भाँति लाल हो गईं। कर्कश स्वर से बोली—'तेरी माँ की शादी करने वाले पुरोहित को ही जाकर पूछ !'

इंदु घृणा से भरी हँसी हँसी। मैं शर्म मारे गड़ गई। बाद में मुझे इंदु ने बताया कि एक दिन पहिले ही निरा अपने बाप के साथ इंदु के घर आई थी। वहीं किसी ने शायद कहा—'क्या सुंदर है लड़की। बामन की होती तो राजा की रानी बनती।'

तब इंदु की माँ अंदर से ही बुदबुदाई 'हमारे ही बंदे हैं वे।'

'बंदे का मतलब है गुलामों की तरह वंश परम्परा से जो रखेल रखी जाती हैं उन स्त्रियों की संतति !' निरा उस समय इतनी क्यों चिढ़ गई यह आज मैं समझ रही हूँ।

आगे निरा का बाप जल्दी ही माड़ से गिर कर मर गया। घर का एक अकेला कमाने वाला आदमी चला गया इस लिए माँ ने उसे स्कूल से हटाकर काम पर लगाया। वह कभी काजू फोड़ने जाती, तो कभी किसी के बर्तन मलती। सबेरे शाला से छूटकर मैं घर लौटती तब सिर पर नारियल का टोकरा लिए बाज़ार में जाती हुई निरा मुझे ज़रूर मिलती। 'काँजी खा चुकी क्या ?' कुछ न कुछ पूछने के इरादे से मैं पूछती।

वह गर्दन हिलाकर, ना कहकर आगे बढ़ती। परन्तु उस की आँखें पानी से भरी सी लगतीं। मैं और वह एक उम्र की। परन्तु मैं सुकोमल छाता

खेले, सुन्दर चप्पल पहिन कर डोलते डोलते घर लौट आती थी। घर में दरवाज़े में पैर रखते ही अपना बस्ता फेंककर ज़ोर से मैं चिल्लाती–' माँ खाने को दे। '

एक दिन मेरा प्रिय चिउड़ा माँ ने खाने को दिया। वह खाते खाते मुझे निरा की याद आ गई। वह बाज़ार में कहीं तो भी कोई नारियल खरीदेगा इस आशा से गर्मी में तपती हुई बैठी होगी, जब कि मैं...

अच्छी तरह छाँह में बैठकर प्रेम से चिउड़ा खा रही हूँ।

मेरी आँखों में पानी तैर आया।

माँ ने सहज मेरी ओर देखा। पूछा—' बहुत मिर्च गिर गया है री ? '

मैं इतनी बोलने में चतुर। पर माँ को क्या जवाब दूँ यह तब मुझे सूझा नहीं।

निरा का बाप इंदू के घर के माड़ पर से नारियल गिराने चढ़ा था। रिमझिम बारिश हो रही थी। इस से फिसलन हो गई थी परन्तु उसी समय नारियल का भाव बहुत चढ़ा हुआ था बेलगाँव में। इंदु के बाप ने उसे कुछ ज्यादह मजूरी देना मंजूर किया और निरा का बाप ' पाड़प करने ' (नारियल गिराने) चढ़ा। प्राणों से भी पैसे का मोल जिस दुनिया ने कर रखा है, उसी ने उसके प्राण लिए। हमारे दादा इंदु के बाप के पास जा कर निरा के बाप की औरत, बाल बच्चों की कुछ मदद करने के लिए कहने लगे। इंदु का बाप अच्छा धनी दलाल था बंबई में। साथ ही भगवद्गीता पर प्रवचन करने का भी उसे शौक था। इस लिए दादा को कुछ आशा जान पड़ी। परन्तु उसके घर से दादा जो लौटे तो बहुत गुस्सा होकर।

इंदु के बाप ने दादा से कहा–' वह क्या मुफ्त में हमारे माड़ पर थोड़े ही चढ़ा था ? वह अच्छे खासे पैसे हम से लेने वाला था। '

' परंतु माड़ का पेड़ था फिसलन भरा। उसने अपना जीवन जो जोखम में डाला आप के लिए। '

'यह देखो मास्टर जी, तुम स्कूल में भेड़ चराओ। यह सांसारिक व्यवहार आप की समझ में नहीं आएगा।'

दादा के विचार तरंग ज्वालामुखी के विस्फोट की तरह थे। नीचे के ज्वलन्त उद्गार उसी समय उनकी लेखनी से बाहर पड़े होंगे।

'मास्टर यानी भेड़ चराने वाला। समर्थ विद्यालय जैसी संस्था स्थापित करने के लिए अपने सुखमय जीवन पर अंगार रखकर मैं इस देहात में आकर रहा। रात दिन मेहनत कर के बच्चों को (चिपलूनकर शब्दों में) 'बाघन का दूध' पिलाया यानी अंग्रेजी पढ़ाया। परन्तु उसकी कीमत क्या हुई? भेड़ पालनेवाला गडरिया यह उपाधि। सचमुच, ये लोग मुझे क्यों न कहें अजापाल! तहसीलदार बनकर मैंने इनकी गर्दन मरोड़ी होती तो भी इन लोंगो ने अपने सिर मेरे पैरों पर रखे होते। पुलिस इन्स्पेक्टर बनकर मैंने उन्हें अपनी लात की ठोकर से उड़ाया होता, तो भी ये लोग मेरे बूट पोंछने दौड़े आते। परन्तु आज शरीर में वैसा क्या है? उनकी दृष्टि से मैं हूँ निरा तीस रुपये माहवार कमाने वाला मास्टर मात्र। मैं भी न जाने कितना कमा सकता था, क्या लाता परंतु वह क्या कहूँ?

'इन लोगों के ढोंग और स्वांग पर चाबुक चलाने वाला सवाई आगरकर महाराष्ट्र में कब निर्मित होगा? आर्य धर्म और पूरब की संस्कृति के गुणगान करने वाले सज्जनों को देहात में जाकर वहाँ के अमीर लोगों के मन को किसी भी प्रकार के संस्कृति का कोई गन्ध भी बचा है यह जाकर स्वयं देखना चाहिए। यह लोग ईश्वर से नहीं, शैतान से डरते हैं। पैसा कमाना और मौज उड़ाना यही इनके जीवन का आदर्श है। उस पैसे के लिए भी क्या इन्हें कोई पसीना बहाना पड़ता है? निरा का बाप मरता है और इंदु का बाप उसी के बल पर खूब पैसे वाला होता है। जिधर देखो उधर मरे हुए मन हैं। इन मरे हुए मनों को दफना न दिया गया तो इनकी गन्दगी से सारा समाज सड़ जाएगा।'

इंदु के बाप ने मेरे दादा का अपमान किया, इस कारण से मैं कई दिन तक इंदु से नाराज़ थी। वह भी कौन है तो शहर के साहूकार की इकलौती लड़की। वह मुझसे भी ज्यादह अहंकारी थी। मुझे लगता है, मराठी तीसरी कक्षा में थे हम तब एक दिन दोपहर को हम दोनों ही सब से पहले स्कूल में पहुँचीं। स्कूल खुला नहीं था। हम सीढ़ियों पर बैठे ही थे कि छठी या सातवी कक्षा में नया आया हुआ एक बारह तेरह बरस का, कँजी आँखों का गोरा सा, दुबला पतला लड़का भी अपनी स्लेट और बस्ता लेकर वहाँ आ पहुँचा। वह पास आते ही इंदु ने नाक दबाकर उसे चिढ़ाना शुरू किया, संध्यामंत्र कहकर—'केशवायनमः, नारायणायनमः, माधवायनमः —'

इंदु के इस नाटक की ओर मैं आश्चर्यचकित देखती रही। उसका रुख मेरी समझ में न आया। उस हँसमुख लड़के ने अपने ऊपर के दाँत निचले होंठ पर ज़ोर से भींचे।

इंदु ने रोते रोते सुर में गाना शुरू किया 'मैं कोंकन का भट, पानी पीता घट घट, बड़े खाता चटचट, खड़ाऊँ की खटखट, पूजा की बड़बड़ —'

कोंकन के ब्राह्मणों पर यह उपहास-काव्य किसने रचा है यह मुझे अभी भी नहीं मालूम। इंदु और मैं दोनों ही होते तो मुझे यह 'कटाव' सुनकर हँसी भी आती। परन्तु मेरी आँखें उस लड़के पर केंद्रित थीं। क्रोध का पारा चढ़ता जा रहा था, इस कारण से उसका चेहरा लालसुर्ख दिखाई दे रहा था। अब मेरे ध्यान में आया। वह लड़का जाति से 'ब्राह्मण' था। हमारी तरह 'बामन' नहीं था। इंदु पर मुझे गुस्सा आया। निरा के माँ बाप बन्दे हैं इस लिए उनकी निन्दा, उस लड़के के माँ बाप 'भट' (पुरोहित) हैं इसलिए उसकी निन्दा— मेरे मन में ऐसी बातें कभी नहीं आती थीं। परन्तु इंदु तो ऐसी सब उलझनों का एक जेबी कोश ही थी।

मैंने उसकी चिकौटी काटते हुए उसे सावधान करने का यत्न किया।

परन्तु निन्दा शराब कि तरह होती है। उस का नशा जिसे चढ़ जाता है, वह चुप बैठा नहीं रह सकता।

इंदु नकी सुर में बोली, उसी ब्राह्मण की नकल उतारते हुए—' कहिए तारा देवी, कुछ दान पुण्य करना है। उपाध्याय महाराज को देना है ? '

मेरे मुँह से शब्द बाहर निकलने से पहिले ही वह लड़का सीधे आगे आया और इंदु का हाथ पकड़कर उसने कहा—' हाँ देना है, कहाँ दूँ ! मुँह में या पीठ पर ? '

इंदु इतनी ढीठ थी, वह भी घबड़ा गई। कुछ लड़के स्कूल की ओर आ रहे थे। चिल्लाने से फज़ीहत होती। इंदु ने उसके हाथ से हाथ छुड़ाने का प्रयत्न किया। वह किसी भी प्रकार छोड़ने को राज़ी नहीं हुआ। इस गोलमाल में इंदु के हाथ की काँच की चूड़ियाँ टूट गईं।

स्कूल शुरू होते ही वह फरियाद हेड मास्टर के आगे रखी गई। इंदु का एक मराठी दो कक्षा पासशुदा चचा था शाला की कमेटी पर। इसके अलावा इस के बाप के दुकान की हेड मास्टर पर उधारी थी वह अलग। सिर्फ मेरी गवाह उस लड़के के अनुकूल थी। परन्तु, इंदु ने कहा कि हम दोनों की लड़ाई है इस वजह से मैं उस के विरुद्ध बोल रही हूँ। हेड मास्टर ने अपना चश्मा दो चार बार पोंछकर वह लड़का दोषी है, यह निर्णय दिया। और उसे सपाटे से दस बेतें लगाईं। उसने जो हाथ आगे किया था, वह वैसा ही उस हालत में खड़ा रहा। न ' हूँ ' कहा न ' चूँ ', हाथ भी पीछे नहीं खींचा।

' बेशरम है, और क्या ! ' थककर बेंत मेज़ पर डालकर हेड मास्टर ने कहा।

वह लड़का हमारे पास से अपनी कक्षा में गया। उसे जाते हुए मैंने देखा।—

उसके दाहिने हाथ पर खून की बूँदें चमक रही थीं।

और वह अकड़कर, सीना तानकर जा रहा था।

...४

और उस की आँखें ?

वे हँस रही थी। मुझे मेरे घर के सामने की टेकरी पर से दिखाई देने वाले सूर्योदय की याद आई। उस समय आकाश कैसे दिखाई देता है– एक ओर सूर्य का लाल बिम्ब। बाकी सब ओर सफेद सुंदर प्रकाश।

६

स्कूल से घर लौटते हुए मैंने दादा से यह बात कही। वे कुछ भी नहीं । परन्तु उनकी पेशानी पर दो तीन गहरे बल साफ झलक रहे थे। वे कुछ सोच में पड़े जान पड़ते थे। ये ललाट पर की रेखाएँ अन्य समय पता नहीं कहाँ छिपी रहती थीं। वे किसी विचार में डूबने पर ही ये रेखाएँ एकदम नमूदार होतीं।

थोड़ी देर बाद दादा ने कहा—'उल्का, चल जरा घूम आएँ!'

माँ ने घर में से कहा—'जल्दी ही वापिस लौटना। ये दिन हैं गर्मी के! साँप बाँप शाम को बाहर निकलते हैं बहुत।'

दादा ने हँसकर जवाब दिया—'इतने देवता हैं तुम्हारे पूजा घर में। वे क्या मुफ्त का नैवेद्य खाते हैं। करेंगे ही वे हमारा रक्षण।'

'छोटे बच्चों के सामने ऐसा कुछ नास्तिकतापूर्ण नहीं कहना चाहिए।' ऐसा कहकर माँ ने मेरे बालों पर हाथ फेरा – उन्हें जमाया और कहा–'तारे, दूसरा साफ पेटीकोट पहन ले।'

दादा से हँसी नही दबाई गई। बोले–'मैं क्या इसे किसी वर को दिखाने ले जा रहा हूँ?'

'लड़कियों को हमेशा साफ सुथरा रहना चाहिए।'

और लड़कों को?'

दादा के इस सवाल से कक्षा में का दिन का दृश्य मेरी आँखों के सामने

उपस्थित हो गया। लड़का! दस बेतें खाईं, फिर भी उस बहादुर ने आँखों से एक बूँद नहीं बहाई। मुझे लगा, कोई मुझे भी उसी तरह पीटे तो वैसे ही निडरता और बहादुरी मैं भी दिखाती। दुसरा एक और विचार मन में आया-यह जात बात क्या चक्कर है? हम सभी आदमी हैं न, फिर बंदे, बामन, भट, लड़की की जात, लड़कों की जात—

समुद्र के किनारे पहुँचकर यह सब विचार कहीं खो गए। शाम हो गई थी। और कौओं के झुंड के झुंड अपने घोंसलों की ओर लौट रहे थे। मानो उनका स्कूल अभी हाल में बन्द हुआ था। समुद्र किनारे बालू के कण कैसे मज़ेदार उड़ रहे थे। देखने वाले को लगा, मानो इन बालु कणों की दौड़ने की स्पर्धा चल रही है। समुद्र के किनारे जंगली घास को कोई बड़ा सा फूल लगता है। वह सूखने पर इधर उधर बिखरकर उड़ने लगता है। वैसे चार पाँच फूल देखकर मुझे लगा कि हवा की लहरें मानों गेंद लेकर मज़े से खेल रही हैं। दूर कहीं पर मछली पकड़ने का जाला सूख रहा था, उसकी गन्दी बदबू आ रही थी। इस कारण से मैं और दादा ज़रा ऊपर जाकर बैठे। सूर्य समुद्र में डूबने लगा, उस समय कैसी मौज जान पड़ी। मानो समुद्र के पानी में कोई सोने की गगरी डुबा रहा है। थोड़ी देर मैं समुद्र के पानी से खेलती रही। बड़ी बड़ी तरंगें हँसते खेलते किनारे आ रही थीं। पहिले तो उनसे डर लगता। परन्तु बाद में जैसे किसी आतिशबाजी में ऊपर जाकर अग्नि के फूल से झरते, बरसते हों, उसी प्रकार से लहर टूटकर बिखर जाती और चारों ओर फेन फैल जाता। ज़री की किनारी वाली नीली साड़ी की तरह दिखाई देने वाले समुद्र की ओर बड़ी देर तक मैं टकटकी लगाए देखती रही, परन्तु मेरा मन नहीं भरा। तरंगें टूट टूटकर पानी लौटकर जाने लगा कि पैरों के नीचे की रेती धीरे धीरे खिसक जाती और पैरों के नीचे छोटा सा खड्डा हो जाता।

मेरे पैरों के पास नाचने वाली छोटी छोटी मछलियाँ देखकर तो जैसे मैं

दंग हो गई। अँधेरे में जुगनूँ जैसे चमकते हैं, वैसे ही वे दिखाई दे रही थीं। मैं दौड़कर दादा के पास गई और बोली–'दादा, कितनी सुन्दर हैं ये छोटी मछलियाँ। कैसी उछल रही हैं। बड़ी मछलियों को ये बड़ी भली लगती होंगी।'

'बहुत भली लगती हैं। इसीसे तो वे उन्हें चट कर जाती हैं।' दादा के स्वर में रूखापन था।

मेरे शरीर में सिहरन दौड़ गई। बड़े मत्स्य छोटी मछलियों को खा जाते हैं। दादा का मुझ पर कितना प्रेम। माँ की मुझ पर कितनी ममता। ना, ना, यह मछलियों में ऐसे कैसे संभव है। मुझे विश्वास नहीं हुआ।

दादा ने एक निःश्वास छोड़ते हुए कहा, 'इन बड़े मत्स्यों पर हँसने का हम आदमियों को क्या अधिकार है?' दादा के उस आधे स्वगत, आधे प्रकट भाषण की ओर मेरा विशेष ध्यान ही नहीं था। दूर समुद्र की वेला (रेतीले किनारे) पर चट्टान पर कोई बैठा था। 'कौन है वह दादा?' मैं ने पूछा। आँखों पर जैसे नींद छाने लगती है, उसी तरह रात घिर आई थी। इस कारण से वह आकृति किसी भूत पिशाच की होगी ऐसी शंका मेरे बाल मन में आ गई।

दादा ने उस चट्टान की ओर देखने का बहाना किया। 'होगा कोई गँवार, मछुए का लड़का। बैठा होगा मछली पकड़ते।' वह क्या कर रहा यह देखने के लिए मैं दौड़ी दौड़ी गई। बालू पर दौड़ते हुए 'कर कर' कर्कश आवाज़ हो रही थी। उस आवाज़ से मेरे हृदय में जैसे एकदम धुक धुकी पैदा हुई। हाँफती हुई मैं उस चट्टान के सामने जाकर खड़ी हुई। और आँखों के आगे दाहिना हाथ टेढ़ा रखकर मैंने देखा। क्षण भर मुझे सत्य ही नहीं जान पड़ा। उस दिन स्कूल में जिसे मार पड़ी थी वही लड़का था वह।

मैंने ताली बजाई। और उसका ध्यान मेरी ओर खिंचा। परन्तु वह

अपने स्थान से नहीं हिला। 'इधर आओ'– मैंने उसे हाथ से इशारा कर के बुलाया। परन्तु वह तो स्तंभ की भाँति वहीं एक जगह बैठा रहा। न हिला। न डोला। मुझे उस पर बड़ा गुस्सा आया। मुझे लगा, जाऊँ और उसका हाथ पकड़ कर उसे खींचकर ले आऊँ। मैंने अपने पहिनावे को ऊपर हाथ से सँवारा और पानी में पैर रखा। वह चिल्लाया– 'पानी बहुत गहरा है बीच में।'

'होगा। तू गया था तब नहीं था क्या?'

क्षण भर वह मेरी ओर टकटक देखता रहा। मैं और आगे गई। मेरा पहिनावा बिल्कुल भींग गया।

वह चिल्लाया–'अरी, डूब जायगी।'

मैंने हँसकर उत्तर दिया–'तू बचा लेगा मुझे।'

मैं आगे आए बिना नहीं रहती यह देखकर वह बोला–'रुक।'

'तुम आए बिना मैं नहीं रुकूंगी।'

'आया मैं। अब तो हुआ?'

'मेरे गले की कसम!'

'हाँ, मेरे गले की कसम!'

'नहीं–तेरे नहीं, मेरे गले की!'

'अच्छा, तेरे गले की कसम!'

उसे लेकर मैं दादा के पास गई। दादा ने उससे कहा–'बेटा, अँधेरा हो रहा है न? चल घर चल!'

'यही घर है मेरा!'

'यही?'

'हाँ, यह ईश्वर का घर नहीं है क्या?' उसने समुद्र की ओर उंगली निर्देश किया।

उसके उस उत्तर से दादा खूब चौंके। उसे पास बुलाकर उसकी पीठ पर

उन्होंने हाथ फेरा। उस लड़के की तेज़ आँखें पानी से भर आईं। उसने अपना सारा जीवन दादा से कहना शुरू किया।

सावंत वाड़ी में उसका घर था। बाप बचपन में मर गया। माँ का भी प्रेम साधारण ही था। उसके मामा का होटल था हमारे गाँव में। माँ भाभी के जच्चे के लिए आई थी। उसी के साथ वह भी आया था।

दोपहर को उसकी माँ इंदु के यहाँ कुछ करने गई थी। तब उसने स्कूल की सब बात सुनी। स्कूल से छूटकर घर पहुँचते ही माँ जमजमा तोप की तरह सलामी देने के लिए तैयार खड़ी थी। वह ज़ोर से चीखी–'उस इंदु का हाथ पकड़ा मुए! वह कौन? तू कौन? कल उसी के घर घंटा बजाने (पूजा–पाठ करने) जाना पड़ेगा। तब?' जनम नहीं हुआ कि बाप को खा गया। चार घर भीख माँगकर कुछ मैं करना चाहूँ तो तुम्हारे ये लच्छन। ऐसा लड़का होने के बजाय न होना ही क्या बुरा है।' माँ के बोलने से और मार पीट से घबड़ाकर यह भले मानुस समुद्र किनारे प्राण देने आए थे।

उसकी कहानी सुनते ही मेरी आँखें भी भर आईं। दादा सिर्फ़ 'हूँ हूँ' कह रहे थे। परंतु उन के ललाट पर की रेखाएँ स्पष्ट दिखाई देने लगीं। उसका बोलना समाप्त होते ही वे उठे, और रेती के किनारे पर टहलने लगे।

बड़े आदमियों का विचार में कितना समय जाता होगा। परन्तु छोटे बच्चों से क्षण भर चुप नहीं बैठा जाता। उसमें भी यह सब दादा को कहने उस बच्चे को एकदम बहुत खुला खुला जान पड़ता था। सपाटे से रेती खोदकर वह घरौंदे बनाने लगा। कितनें कम समय में उसने वे बनाएँ। वह बायें हाथ से रेती उलीच रहा था। तब मैंने कहा 'क्यों जी, तुम्हें बहुत लगा क्या?'

हँसकर वह कुछ गुनगुनाने लगा। बड़ा मज़े का गाना था वह।

घरौंदा बनने पर मैंने पूछा 'किस का घर है यह?'

गुड़िया का खेल खेलने जैसी मैं छोटी बच्ची तो थी नहीं। परन्तु 'यह घर है तुम्हारी गुड़िया का' ऐसा वह कहे ऐसी इच्छा मन में थी।

उसने कहा—' घोंघे का घर है ! '

' घोंघे का कैसे ? '

' क्यों कि वह रेती में रहता है । '

७

मुझे गुस्सा आया है ऐसा समझकर वह मुझे समझाने लगा ।

' यह घर तुझे दिया तो तू क्या करेगी ? '

' मैं मेरी गुड़िया को दूँगी । '

' और तू कहाँ रहेगी ? '

मेरी ग़लती मैं जल्दी से समझ गई । और मैं उसके साथ हँस खेलकर बोलने लगी । जब अँधेरा फैलने लगा तब हम लौटे । राह में दादा ने उससे पूछा ' नाम क्या है तेरा ? '

' धूमकेतु '

दादा क्षण भर स्तंभित हो गए ।

वह शरारत भरी दृष्टि से हँसते हुए बोला ' मामा ने मेरा नाम रखा है । शाला छूटने पर मैं जब मन में आए तब वापिस घर लौटता हूँ । मुझे देखकर वे माँ से कहते हैं–' हाँ, यह देखो धूमकेतु अब उगा है । '

' अरे, परन्तु तेरा पलने में का नाम क्या है ? '

' चंद्रकान्त ! परन्तु माँ मुझे सदा चंदर ही कहकर पुकारती है । '

उसकी माँ से भी ज्य़ादह मेरा प्रेम उस पर है यह दिखाने की इच्छा मेरे मन में जागी । मैंने दादा से कहा ' अपना चंद्रकान्त बड़े अच्छे गाने गाता है । '

' अच्छा ? तो गाओ न एक अच्छा सा गाना । '

वह शरमाया नहीं और न ही उसने आनाकानी की । एकदम ऊँचे सुर से

उसने गाना शुरू किया। सिपाही का गाना था वह। उस में का हर सुर अभी तक मेरे कानों में गूँज रहा है।

*"नव्या मनूंतिल नव्या दमाचा शूर शिपाई आहें,
कोण मला वठणीला आणूं शकतो तें मी पाहें!
ब्राह्मण नाहीं, हिंदुहि नाहीं, न मी एक पंथाचा,
तेच पतित कीं जे आंखडिती प्रदेश साकल्याचा!
खादाड असे माझी भूक,
चतकोरानें मला न सूख
कूपांतिल मी नच मंडूक;
मत्स्यास माझ्या कुंपण पडणें अगदीं न मला साहे!
कोण मला वठणीला आणूं शकतो तें मी पाहें!
जिकडे जावें तिकडे माझी भांवडें आहेत,
सर्वत्र खुणा माझ्या घरच्या मजला दिसताहेत;
कोठेंही जा—पायाखालीं तृणावृता भू दिसते,

* नवयुग का मैं नई शक्ति का सिपाही शूर
कौन मुझे वश में कर सकता देखूँ वह मगरूर?
ब्राह्मण नहीं न हिन्दू, मेरा नहीं एक ही पंथ
वही पतित हैं जो कि रोकते अरे सफलता पंथ
है मेरी भारी भूख,
संतोष न पा दो टूक,
मैं नहीं कूप मंडूक,
मेरे खेत न बागड़ होगी, मुझे न वह मंजूर!
कौन मुझे वश में कर सकता देखूँ वह मगरूर?
जिधर चलूँ मैं उधर मिलेंगे मुझको मेरे भाई।
सभी ओर हैं देते घर के चिन्ह मुझे दिखलाई।

* *कोठेंही जा—डोईवरतें हिरवें नीलांबर तें;*
सांवलींत गोजिरीं मुलें,
उन्हांत हंसती गोड फुलें,
बघतां मन हर्षून डुलें;
तीं माझीं, मी त्यांचा,—एकच ओघ अम्हांतुनि वाहे !
नव्या मनूंतिल नव्या दमाचा शूर शिपाई आहें !

हम बिल्कुल धीरे धीरे चल रहे थे। काजू के पेड़ों पर और तमालों पर काली सी छायाएँ नाच रही थीं। आकाश की नन्ही सी चंद्रकला की ओर और चंद्रकान्त के चेहरे की ओर मैं बारी बारी से देख रही थी। चट्टान पर उदास होकर बैठी हुई उसकी पहिली मूर्ति और आवेश के साथ गाने वाली यह दूसरी मूर्ति—मेरे स्मृति के संग्रहालय में ये दोनों चित्र अभी भी जैसे कल अंकित किए हुए हों।

घर पर आने पर खाने का प्रश्न उठा। दादा ने उससे पूछा—'तू हमारे यहाँ खायेगा ?'

'हाँ, न खाने में क्या हुआ ?'

'और कल अगर घर पर पूछा, तो ?'

'कह दूँगा नहीं खाया !'

---

* किसी दिशा में जाओ—नीचे तृणावृता भू सुन्दर
किसी दिशा में आओ—सिर पर दिखता है नीलाम्बर
छाया में सुंदर शिशुगण
किरणों में हँसे मधु सुमन
देखकर हर्षदोलित मन
वे मेरे, मैं उनका, हम में इक प्रवाह भरपूर
नव युग का मैं नई शक्ति का एक सिपाही शूर।

'झूट बोलने पर माँ पीटेगी तो ?' मैंने कहा।

'वह भी सह लूँगा।' उसने हँसते हँसते कहा।

भोजन होने पर दादा अपने लिखने के कमरे में पढ़ते बैठे। माँ रसोईघर में कुछ काम कर रही थी। चंद्रकांत मँझले कमरे के बिछाने पर लेटते ही सो गया। मुझे किसी तरह नींद नहीं आ रही थी। दोपहर से जो जो बातें घटित हुई वे सब दृष्टि के सामने खड़ी हो गईं। मैं इस तरह तिलमिला रही थी तब मँझले घर से कोई कराहा ऐसा जान पड़ा।—'ओ माँ!'

झट से मुझे याद आया। उसका दाहिना हाथ सूजा होगा। मैं जग कर रसोई घर में गई। माँ से जाकर सब कहा। उसने हल्दी चूना गर्म कर के उसे लगाने के लिए कहा। मेरा पहिला इरादा था उसे जगा कर कहूँ कि इसे अपने हाथ से लगा ले। परन्तु मँझले घर में आने पर मेरा इरादा बदल गया। वह हल्दी चूना धीमे से उसके हाथ पर लगाने से सबेरे उसकी खासी फ़ज़ीहत हम कर सकेंगे, ऐसी कल्पना मन में जगी। उसके सिरहाने दीया जलाकर मैंने दाहिने हाथ की ओर देखा। उँगलियाँ आधी मुड़ी हुई सी थीं। परन्तु हाथ कितना सूज गया था। मुझसे अपना रोना न रोका गया। मैंने आँख के आँसू पोंछकर, हल्दी चूने में उँगली डाली और वह उसके हाथ पर धीमे से लगा दिया।

या तो दीये का प्रकाश आँखों पर पड़ा इस लिए, या दूसरे हाथ को धक्का लगा इस लिए, उसने एकदम आँखें खोलीं। नींद एकदम खुल जाने से उसने मुझे नहीं पहिचाना। आँखें मलने के लिए उसने दाहिना हाथ ऊपर उठाया। अनजाने में 'माँ ओ।' यह अस्पष्ट उच्चार उस के मुख से बाहर निकला। परन्तु झट से हँस कर वह बोला—'क्या कर रही थी तू ? मेरा बालू का घरौंदा फोड़ने आई थी क्या ? परंतु मैं वह तो समुद्री कीड़ों को ही देने जा रहा हूँ।'

उसके इस बोलने की मुझे हँसी लगी। परन्तु उस हँसने से, आँखों में

पहिले ही जो उफन आईं थीं वे आँसुओं की बूँदें गाल पर उतर आईं। वह देखते ही उसने कहा ' रो रही है तू ? '

' कितना लगा है तुझे ! '

' हः ! मार से ही विद्या आती है। '

' तुम्हें कौन सी विद्या आई ? ' मैंने हल्दी चूने का लेप करते हुए पूछा।

' कुछ भी हो जाय तो भी प्राण नहीं देने चाहिए यही सीखा हूँ मैं आज। ' बोलते हुए उस का गला भर आया था ऐसा मुझे लगा। हल्दी चूना छोड़कर मैंने ऊपर दृष्टि उठाई। उसकी आँखें डबडबा आई थीं। दूसरे के लिए रोने में भी समाधान होता है इसका अनुभव मुझे सर्व प्रथम उस दिन आया।

चंद्रकांत की और मेरी घनिष्ठता होते ही मैंने इंदु से बोलना छोड़ दिया। मेरा स्वभाव है ही वैसे हटवादी। या तो एकदम गर्म रेगिस्तान में चलूँगी या फिर समुद्र में तैरूंगी। परन्तु दलदल में से चलने को कोई कहता है तो बड़ा कष्ट होता है। इंदु से मैंने जो मौन धारण किया था उसका भी कारण यही था। उस समय यदि बड़ी युक्ति से चंद्रकान्त हम दोनों में समझौता न कराता तो, शायद इंदु ने मुझे और मैंने इंदु को एक शब्द से भी कभी नहीं पूछा होता।

इंदु छुट्टियों में या तो सांगली या बंबई में जाती। उधर से आने पर वह मुँह से भक् भक् करके कई बार रेलगाड़ी का खेल खेलती। कभी वह इंजन बनती, कभी मैं। परन्तु दोनों में मौन हो जाने पर न इंजन को डिब्बा न डिब्बे को इंजन मिला। एक दिन शाला शुरू होने के पहिले वह ' भक् भक् ' करके दौड़ने लगी। मुझे भी इंजन बनने की इच्छा हुई। बस ! एकदम एक इंजन दूसरे इंजन पर जा टकराया। चंद्रकान्त आसपास न होता तो शायद नौबत हाथापाई पर ही आ जाती। परन्तु वह दौड़ते दौड़ते आया और

बोला—' ओ हो ! दुर्घटना हो गई शायद । कल के अखबारों में बड़े बड़े अक्षरों में समाचार आएंगे अब । '

धूप और वर्षा एक होते हैं उसी प्रकार क्रोध और हँसी का विचित्र मिश्रण हमारे मन में हुआ । परन्तु इंदु का गुस्से से फुसफुसाना कम न हुआ. चंद्रकान्त झट से बोला—' इंदु ताई, तुम बनो जी. आई. पी. और उल्का ताई बनेगी बी. बी. सी. आई. ! दोनों बंबई से – यानी इस पत्थर के पास से – निकलेंगी । परन्तु जी. आई. पी. जायगी उस पेड़ की ओर और बी, बी. सी. आई. इस झाड़ी की ओर । '

' मैं नहीं बनती जी. आई. पी. तीन ही अक्षर हैं । इसके क्यों ' चार अक्षर ' । इंदु बोली । ' अरे हाँ, मैं ग़लती कर गया था । तुम्हारा नाम जी. आई. पी. आर. है । हैं न चार अक्षर ? ' अब दोनों गाड़ियाँ बिना टकराए बराबर चलने लगी ।

मुझे कोई सगे भाई बहन नहीं थे । दादा सदा किताबों में डूबे रहते तो माँ थी विधवा पत्नी । सो आसपास के पड़ोसी भी हमारे यहाँ बहुत कम आया करते थे । किसी समय निरा मेरी बहुत पक्की साथिन थी अवश्य । परन्तु मेरी शाला और उसका काम इन दोनों का मेल कैसे हो ? दादा मुझे घुमाने ले जाते, गाना सिखाते । इस कारण से मेरे आनन्द में कोई कमी है ऐसा मुझे कभी नहीं लगा । परन्तु चंद्रकांत उस रात हमारे घर पर रह कर गया तब से मुझे कुछ खोया खोया सा लगता । वैसे देखो तो दादा और माँ की मुझ पर क्या कम ममता थी ? परन्तु क्रीड़ा वृत्ति में जो खुलेपन का आनन्द होता है उस में केवल अपने से बड़ों की वत्सलता ही काफ़ी नहीं होती । जीवन की प्रत्येक अवस्था में समवयस्क साथी की साध मन में लगती है यही सच है । एक ही समतल के दो प्रवाहों का बिल्कुल सहज संगम नहीं होता है क्या ?

इसी कारण से मैं चंद्रकान्त से बहुत हिल गई । उसका स्वर बड़ा मधुर था । उसे खूब गाने भी याद थे । माँ उससे ' राजहंस मेरा सोया ' (गड़करी का

एक प्रसिद्ध करुण गीत) हमेशा गवा लेती। उसे स्वयं को वह अधिक प्रिय नहीं था। वह एक बार माँ से बोला 'काकी, मैं नन्हे मुन्ने का गीत गाता हूँ।'

'क्यों भाई, नन्हे मुन्ने का क्यों ?'

'हमें नहीं अच्छा लगता रात दिन रोना रोना। नन्हे मुन्ने की पैंजनियों का नाच सुनो कैसा अच्छा है।'

बजाओ रे नन्हे, मुन्ने, झुनझुन पाँजनियाँ
एक ही पैर नचे नन्हे, नाच मधूर पैंजन का सुनकर
आनन्द से, उस छंद से, सब घर मेरे नाचे

परंतु यह गाना सुनकर भी माँ की आँखों में आँसू आ गए। हम दोनों को इसका बहुत आश्चर्य जान पड़ा। अब मुझे उसका कारण समझ में आता है– पैंजनियों का गाना गाते समय माँ को अपने गुज़रे हुए बच्चों की याद आती होगी।

चंद्रकांत की मीठी आवाज़ के कारण शाला के सरस्वती पूजन में सब नाटक और संभाषणों में उसे मुख्य काम मिला और हेड मास्टर फिर उस पर प्रसन्न होने लगे। इन संवादों में एक था–'तुम्हारा खेल।' उस में के पात्र थे मेंढक और बच्चे। मास्टर जी ने पूछा 'पत्थर मारने वाले लड़के कौन बनेंगे ?'

बहुत से लड़कों ने हाथ उठा दिए।

'और मेंढक ?'

अकेले चंद्रकान्त ने हाथ ऊपर उठाया। शाला में हँसी की जैसे बाढ़ आ गई। कहीं से, पीछे से 'मंडूक' शब्द भी सुनाई दिया। 'ड्रॉंव ड्रॉंव' गाना भी शायद सुनाई देता परन्तु हेड मास्टर की भौंहें तनी देखकर बच्चे चुप रहे। उनकी भौंहें धनुष्याकृति चाहे न हों परन्तु उनका उपयोग धनुष्य की भाँति अवश्य होता था। मेंढक कहते ही वे भूरे, मटियाले, काले पीले रंग, वह लिब-लिबा अंग मेंढक बनने को कोई राज़ी नहीं होता था। चंद्रकान्त बोलने वाला

मेंढक और बाकी सब गूँगे साथी ऐसी व्यवस्था निश्चित हुई। परन्तु मूक होने पर भी आखिर मेंढक सो मेंढक ही। और खेल के बाद में कई दिनों तक 'मेंढक' कहकर और बच्चे हमें चिढ़ाएँगे इस कारण से बोलते हुए मेंढक को गूँगे मित्र भी मिल रहे थे।

संभाषण में काम करने लायक लड़कियाँ हम दो ही थीं। इंदु और मैं। इंदु का गला मुझसे अधिक मधुर था। मुख्य गाने मेंढकों के थे इसलिए हेड मास्टर का इरादा उसे मेंढक बनाने का था। परन्तु अमीर बाप की इकलौती लड़की। उसे पूछें कैसे? आखिर वे कुछ सुझाते हुए स्वर में बोले—'क्यों इंदु, तुम बनोगी? मेंढकों को ही अधिक गाने हैं।'

'मैं पत्थर मारने वाली लड़की ही बनती हूँ, मास्टर जी! मुझे एक गाना बना दो नया।'

प्रयोग की सुविधा के लिए संभाषण में परिवर्तन हुआ। इंदु पत्थर मारने वाली और वह मारते समय ताल सुर पर गाने वाली लड़की बनी। दो लड़कियाँ एक तरफ खड़ी करना शोभा की दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं था। इसी कारण से मुझे मेंढक बनना पड़ा। परन्तु उससे मुझे आनन्द हुआ यह सच है। झूठे मूठे नाटक में ही क्यों न हो, चंद्रकान्त के पक्ष में ही मैं हूँ यह कल्पना एक सी मेरे मन में नाच रही थी।

चंद्रकान्त को सिर्फ सहायता देने का काम मेरा था। उस कारण से वे गाने आज मुझे पूरे याद नहीं आ रहे हैं। यदि याद होते तो अन्वेषण का सा भाव बनाकर मैं अपने हेड मास्टर पर शायद एक लेख भी लिखती। परन्तु और चाहे पंक्तियाँ मैं भूल गई हूँगी, नीचे की दो पंक्तियाँ अभी भी मेरे कानों मे गूँज रही हैं :—

खेल हो रहा सुंदर यद्यपि बालक गण आपका अहा !

जा रही जान हमारी यहाँ !

यह पंक्तियाँ कहते हुए चंद्रकान्त झट से मर्म पर पत्थर लगने का

अभिनय करता था। वह मुद्रा और वे पंक्तियाँ मुझे उस समय बहुत मज़ेदार जान पड़ीं। परन्तु अब ? दुनिया की ओर खुली आँखों से देखने पर हृदय जैसे निचुड़ जाता है और उन में से वे पंक्तियाँ बाहर निकलती हैं। 'संसार एक रंगमंच है', यह उद्गार व्यर्थ नहीं कहे शेक्स्पीयर ने।

चंद्रकान्त को, मिट्टी से भी जो बीन लिए जा सकते हैं ऐसे फूल बहुत पसन्द थे। 'तुझे बकुल के फूल ही क्यों अच्छे लगते हैं ?' एक दिन मैंने पूछा।

'उनमें छुआछूत नहीं होती इस लिए। मामा की छुआछूत का मुझे बहुत गुस्सा आता है।'

उसका वह श्लेष मुझे आज हास्यास्पद लगता है। परन्तु उस वय में इसी बात की मैंने कितनी सराहना की। मैंने जाकर यह बात माँ से कही, दादा से कही और खुद भी कई बार वही बात कही।

हमारे घर के सामने एक पहाड़िया थी, उस पर बकुल के फूलों की मानो वर्षा होती। कई दिन तक मैं वे फूल बीनकर चंद्रकान्त को जाकर देती थी। एक दिन मन में आया – ऐसे बिखरे फूल तो कहीं भी गिर जाते होंगे। सुंदर सी माला बना दूँ उसे। चित्र में के विष्णु के गले में होती है वैसी लम्बी माला बनाने का मैंने निश्चय किया। दोपहर को निरा की मदद से मैंने अपनी योजना पूरी भी की। वह लम्बी सी माला देखकर निरा बोली – 'तारा ताई, आप लोगों में शादी ब्याह में ऐसी लम्बी माला करते हैं न ?'

इस दिन शाला में जाते हुए मेरा हृदय एकदम नाच रहा था। कब एक बार जाकर चंद्रकान्त को वह माला जाकर पहनाऊँगी – परंतु पूर्ण चंद्र को ही ग्रहण जो लगता है। मेरा आनन्द भी उसी प्रकार कालिमामय हो गया। चंद्रकान्त उस दिन स्कूल में नहीं आया। उलटे, उस का मामा आकर हेड मास्टर से 'उसका नाम काट डालो' कहकर चला गया।

वह सूखी हुई बकुल माला अब भी मेरे पास है।

८

कोई कहेगा, पुरानी यादों में क्या धरा है ? हम हर साल नए कपड़े बनाते हैं। पुराने कहाँ जाते हैं इस की हम फ़िक्र भी नहीं करते। जीवन के अनुभव और कपड़े एक से ही हैं न ?

यह झूठी बात नहीं है। आदमी घर में फटे कपड़ों की और एकदम मैली मटियाली चिंदिओं की गठरी कहीं घर में संभालकर रखता है ? परन्तु कुछ कपड़े ऐसे होते हैं कि वे चाहे फटे पुराने हों फिर भी उनकी क़ीमत क़ीमती साल्ह से भी ज़्यादह होती है। हमारे दादा का एक बिछाने का क़ालीन था। उनके नाना ने उन्हें दिया था वह, ऐसा सुनते हैं। नाना जितने कर्मण्य, उतने ही स्नेह-पूर्ण भी थे। दादा को उन की याद बराबर आती। पुराने ज़माने में आज की तरह फोटो कहाँ निकालते थे। अंत में नाना की याद के रूप में दादा ने उनका पुराना क़ालीन सँभाल कर रखा।

मेरी स्मृतियाँ इसी पुराने क़ालीन की तरह हैं। हज़ारों लोगों के बैठने के लिए चाहे उस का उपयोग न हो, परन्तु जिस का वह क़ालीन है उसके लिए तो वह उससे मानो प्रेम से बोल रहा है ऐसा नहीं जान पडता है क्या ?

तब मैं दस बरस की थी शायद ! गड़करी बहुत बीमार थे इस लिए दादा ने उन्हें मिलने का निश्चय किया। माँ भी विवाह के बाद पूना या बंबई की ओर नहीं गई थी। जाती भी तो कहाँ और कैसे। पुनर्विवाह करनेके कारण उसके मायके के लोगों ने उससे सम्बंध तोड़ सा दिया था। हवा बदलने के लिए या चार दिन मौज के लिये पूना या बंबई की ओर जाने लायक दादा धनवान थोड़े ही थे। और उस समय का वह छोटी बैल गाड़ी का बहुत खर्चीला और त्रास पूर्ण प्रवास ! सावंत वाड़ी से बेलगाँव जाने में तीन तीन दिन लग जाते। घाट में बाघ का डर था, कानूर में डाकुओं का डर—हज़ार अड़चनें प्रवासियों के सामने थीं।

मुझे वह प्रवास बड़ा आनन्ददायक जान पड़ा। इतना दूर का लम्बा मेरा पहला प्रवास था वह। परन्तु छोटी बैल गाड़ी जब घाट चढ़ने लगी तब रात के नौ बजने पर भी मुझे नींद नहीं आ रही थी। बैलों के गले के घुंगरुओं की मंजुल ध्वनि सुनकर ऐसा जान पड़ता था मानो कोई घंटा बजाकर देवता की पूजा कर रहा हो। दायीं ओर पहाड़ पर चाँदनी यों गिर रही थी मानों शंकर की पीठिका पर कोई दूध का अभिषेक हो रहा हो। एक ओर घाटी कोहरे की चादर ओढ़े सोई थी। बीच में ही चट्टान में से बहने वाले पानी के प्रवाह चाँदनी में हीरे की तरह चमक रहे थे। फूल और पत्तियों की मंद अस्फुट सुगंध हवा के झकोरों के साथ आती और जाती। किसी निकटवर्ति मित्र ने जाते जाते धीमे से कान में आनन्द की बात कही हो, ऐसी वह गंध जान पड़ती। कई चक्करदार मोड़ पार कर के जैसे जैसे हमारी बैल गाड़ी ऊपर गई, त्यों त्यों बायीं ओर की पहाड़ी दायीं ओर आई, उस समय गाड़ी वाला सोया है और बैल कहीं घर के आकर्षण से लौटकर मुँह फेरकर वापिस तो नहीं जा रहे हैं, ऐसी शंका मेरे मन में आए बिना न रही। बड़ी देर तक गाड़ी का पर्दा ऊपर कर के मैं वह आनन्द ले रही थी। आखिर नींद से भरी माँ को एक धक्का लगा। वह जग पड़ी, और बोली ' जाड़ा लग जायगा, पर्दा डाल दे। '

वह खुला हुआ पर्दा फिर डाल देना मेरे लिए असह्य था। बाहर इतना आनन्द फैला था, उसे आँखों से ओझल मैं कैसे करूँ ? ना–ना, इससे तो गाड़ी से उतर कर उस आनंद का सोना खूब पेट भर कर लूटने का मन हो रहा था। परन्तु रात में ऐसी देर तक मैं चल कैसे सकती थी ? कोई मेरे साथ में मेरे ही उम्र का होता तो ? मुझे एकदम चंद्रकान्त की याद आ गई। सारे वर्ष भर उस से भेंट नहीं हुई थी। कहाँ होगा वह ? वह होता तो हम दोनों गाड़ी से साथ साथ नीचे उतरते। और कोई बाघ अगर झाड़ी से बाहर निकल आया होता तो ? चंद्रकान्त ने बाघ को मारा होता।

नहीं तो उसे डाँट कर कहा होता 'बाब महाशय, यह फूलों का घर है। यहाँ तुम्हारा क्या काम है ?'

आगे दादा ने मुझे वर्डस्वर्थ की Daffodils कविता सिखाई, उस कविता में नीचे की पंक्तियाँ पढ़ते समय मुझे घाट में के उस सुंदर दृश्य की याद आ गई।

For oft when on my couch I lie
In vacant or in pensive mood
They flash upon that inward eye
Which is the bliss of solitude,
And then my heart with pleasure fills,
And dances with daffodils.

आज भी उस चाँदनी रात का वह रम्य दृश्य मेरी आँखों के सामने नाच रहा है। और उसी समय के समान लगता है – चंद्रकान्त यदि आज मेरे साथ होता तो...

दादा और मैं गड़करी के घर गए। वह घटना तो मैं कभी नहीं भूलूँगी। गड़करी बिल्कुल मरण शैय्या पर थे तब। परन्तु हमारा स्वागत करते समय भी वे श्लेष किए बिना न रहे। बोले–' बिछाने से बँधे पड़े रहने में भी एक तरह से फायदा है; क्यों कि ओढ़ने के नीचे आदमी दिखाई ही नहीं देता और जब आदमी ही नहीं दिखाई देता तो उस के दोष कहाँ से दिखाई देंगे ?'

दादा हँसे। पर ऊपरी ऊपरी थी वह हँसी। गड़करी की वैसी हालत देखकर उनकी आँखों में पानी तैर आया था। गड़करी की वे घनी मूँछें, वह ज़रा सी चिपटी नाक और वह तीव्र दृष्टि – अभी भी सब कुछ ज्यों का त्यों दिखाई देता है। आँखों के आगे चित्र खड़ा रहता है। दादा उनके पास बैठने पर वे बोले–' ओंकारेश्वर के मन्दिर में, घी में एक दूसरे के मुँह देखने चाहिए। परन्तु ओंकारेश्वर पर खुद चल कर जाने की ताक़त नहीं है मुझ में। चार जनों की मदद लेकर शायद–'

दादा एकदम बीच में बोले। वह क्यों बोले यह बात आज मेरे ध्यान में

आ रही है । उन्होंने कहा 'आप में चलने की ताक़त होती तो भी जाने में कुछ मतलब नहीं था !'

'—क्यों भाई ?'

'इतना घी नीचे देखने पर क्या मैं चुप बैठता ? मैंने तो परात ही मुँह को लगा ली होती और—'

बस । विद्यार्थी अवस्था के असंयमित खाने पीने पर से जो गप्पें हाँकना शुरू हुवा । उस समय के मित्रों की नामावली याद की गई । आखिर बातचीत का हवाई ज़हाज़ साहित्य की ओर मुड़ा । दादा ने अपनी कविताएँ प्रकाशित कीं या नहीं यह उन्होंने पूछा । डिगरी न होने से उन की कविताएँ सधन्यवाद कैसे लौट आतीं, और एक बार कीर्ति की चाट पड़ जाने से शिक्षा व्यवसाय से कैसे उनका मन हट जाता इस कारण से लिखने की इच्छा को उन्होंने कैसे मार डाला इसका सविवरण वर्णन दादा ने उसके पास किया । वर्णन क्या था ? हृदय की जख्में ही मानों उन्होंने खुली कर के दिखा दी थीं । उसी समय मुझे उनके उस वर्णन का कुछ नहीं लगा । मैं खिड़की में खड़ी रहकर सामने के पीपल की ओर देखती रही । परन्तु अब दादा की डायरियाँ और विचार तरंग इतनी बार पढ़ने पर लगता है कि वह सीदा सादा इतिहास नहीं था । आदर्श का झंडा गेरुआ बनाए रखने के लिए अपने खून से उसे रँगने वाले सिपाही का इतिहास था वह ।

दादा आज्ञा लेकर जाने के लिए उठे 'फिर पूना आऊँगा तो भेंट होगी ही ।'

'फिर भेंट ?' यह कहकर गड़करी ने सिर्फ ऊपर देखा ।

दादा नकली हँसी मुँह पर लाकर बोले— 'वाह, उल्का की शादी में मैं आप को ले जाऊँगा कोंकन में ।'

"—अरे हाँ, इसे तो मैं भूल ही गया था । उल्का है क्या इसका नाम ? अच्छा ! नाम तो बड़ा नवीनतापूर्ण है ।' मुझे पास बैठाकर वे मेरे चेहरे की

ओर देखकर कहने लगे 'जैसा नाम है, वैसा कुछ जीवन में करना, समझी बेटी ?'

परन्तु यह नाम हमेशा टिकनेवाला थोड़े ही है ? लड़की का क्या, शादी हुई कि नाम बदला।' दादा बोले।

'नाम बदलने में कोई नुकसान नहीं, उल्का। परन्तु वह नया नाम खुद कमाना चाहिए। निरे धर्म का नाम नहीं चलेगा। क्या करेगी तू लड़की आगे जीवन में ?

दस बरस की छोटी सी लड़की मैं। चुप बैठी रही। गड़करी ने दादा से कहा—'तुम्हारी लड़की भाई होशियार दिखती है। तुम्हारी ही परम्परा चलायगी यह आगे।'

'कैसी परम्परा ? शाला खोल देने से सुधार हो गया ऐसी खुद की वंचना कर लेने की ?' दादा के स्वर में हँसी और खिन्नता का विचित्र मिश्रण था।

गड़करी की आँखों में क्षण भर अजीब चमक दिखाई दी। वे उठने का प्रयत्न करके बोले—'भाई, ज़रा रुक जाओ। गए साल लिखी हुई एक कविता मैं तुम्हें दिखाता हूँ।'

उनकी सेवा के लिए पास में बैठे लड़के की ओर मुड़कर – शायद उस लड़के का नाम पांडुरंग था – वे बोले 'वह कविता तो निकालो ज़रा'

'कौनसी ?'

'एक समस्या।'

दादा ने वह कविता साधारण बड़े आवाज़ में पढ़ी। मुझे कुछ वह ठीक ठीक समझ में नहीं आई और अच्छी तो लगी ही नहीं। 'राजहंस' और 'पैंजनियाँ' जैसी सुंदर कविताएँ लिखने वाले गड़करी ठेठ ऐसी कविता दादा को सुना रहे थे यह देखकर अचरज हुआ। परन्तु उस में की आख़िरी एक पंक्ति दादा ने ऐसे स्वर से पढ़ी कि उस कविता में भी कुछ मन को बँधने

वाली बात है ऐसा मुझे विश्वास हुआ। वह पंक्ति मैं कभी भी नहीं भूली—

' इस अभागे देश में कभी भी सुधार होगा ? '

' कैसी लगी कविता ? ' गड़करी ने प्रश्न किया।

' गद्यप्राय है। उसमें आपका भाषा विलास नहीं है। परंतु—

' परन्तु क्या ? '

' उस में हृदय निचोड़कर कोई बात कह रहा है ऐसी प्रतिध्वनि है— "

' और क्या चाहिए ? आपने तो कविता की परिभाषा ही कर दी जैसे ! '

' ऐसा और भी बहुत सा लिखिए। '

' लिखूँगा। अभी बहुत बहुत लिखने की इच्छा मन में है—परन्तु ईश्वर के आगे आदमी के मन को पूछता है कौन ? ' एकदम मेरी ओर मुड़कर वे बोले ' दादा, जो आपसे हमसे न बना वह शायद यह लड़की भी करेगी उल्का, तू तो नई पीढ़ी की है। '

बोलने से शायद उन्हें और तकलीफ़ होगी इसलिए दादा ने अपना बोलना समाप्त किया। आगे जल्दी ही गड़करी यह दुनिया छोड़कर गए। परन्तु ' नाम के अनुसार कुछ न कुछ करो बेटी, इस दुनिया में ' ' और उल्का तू तो नई पीढ़ी की है। ' ये दो वाक्य अभी भी मुझे स्फूर्ति देते हैं।

९

अंग्रेज़ी शाला के मेरे सारे अनुभव मैं कहने बैठूँ तो एक पूरी रामायण ही होगी। परन्तु ऐसी रामायण में राम के दर्शन किसी को न होंगे। और वे पुराण खोदकर पढ़ने से लाभ भी क्या ?

अंग्रेज़ी शाला में मैं और इंदु दोनों दाखिल हुईं। तब मेरी उम्र थी ग्यारह और इंदु शायद बारह या तेरह बरस की थी। लड़कियों को साथ

पढ़ने देने को राज़ी भी थे। परन्तु इंदु की माँ ने हेड मास्टर को सन्देसा भेजा कि यदि वे ऐसा कुछ करने वाले हों तो वह अपनी लड़की को स्कूल में न भेजेंगी। इंदु के आने से और बड़े व्यौपारियों की लड़कियाँ बाद में स्कूल में आने की संभावना थी। और इंदु के जैसे अमीर घराने को दुखाने योग्य आदर्श का प्रेम भी हेड मास्टर में नहीं था।

लड़कियों के अलग बैठने का परिणाम अच्छा होता है ऐसा कई लोग सोचते हैं। परन्तु मेरा अनुभव इससे बिल्कुल उलटा है। पहले मुझे उतना समझता नहीं था। परन्तु तीसरी चौथी में जाने पर मुझे पता लगा कि कुछ लड़के किताबों की आड़ मुँह छिपाकर चोरी से देखते थे। कुछ ढिठाई से वैसे खुले आम देखते। लड़कियाँ उनसे कुछ भिन्न हैं यह धारणा निश्चित होने के कारण उन्हें ऐसी इच्छा होती है। उस देखने में पाप होता ही है ऐसा मैं नहीं कहती। परन्तु उनकी दृष्टि इतनी निर्लज्जता पूर्ण भी नहीं होती ट्राम गाड़ियों की खड़खडाहट सुन सुनकर आदतें नहीं शुमार हो जाती ? लड़के और लड़कियाँ साथ साथ बैठने से कुचेष्टाओं का मूल ही आप से आप नष्ट हो जायगा।

लड़कियों से भी इस मामले में लड़कों को प्रोत्साहन मिलता था। ज्यों ज्यों हम ऊपर की कक्षाओं में जाने लगीं, त्यों त्यों हमारी वेश भूषा और केश भूषा में भी सुधार होने लगा। इंदु के पिता अक्सर बंबई में रहते थे—इस कारण से छुट्टी में वह बंबई जाती और नए नए ढंग के पोलके और साड़ियाँ ले आती। उसे देखकर मुझे वैसा ही करने की इच्छा होती थी। लड़कियों के इस नखरे करने और लचकने का कुछ लड़कों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है इसमें संदेह नहीं। लड़कियों को खुश करने के लिए फिर लड़के भी बनने सँवरने लगते हैं। यह मोर के साथ नाचने वाली 'मोरनी' जैसी पंखहीन साज सजावट करने वाले मेरी कक्षा के दो तीन विद्यार्थी अब भी मुझे याद हैं। क्या लड़कियों ने और क्या लड़कों ने व्यवस्थित साफ सुथरा रहना चाहिए

यह सच है, परंतु बिल्कुल शादी के लिए प्रस्तावित लड़की की भाँति वेश भूषा बनाने में हमारी इंदु का समय नष्ट हो जाता था । दादा ने उसे पढ़ाते हुए एक बार उसे ताना भी मारा था—' पाठशाला देवालय है, रंगमंच नहीं । '

'एकनूर आदमी, दसनूर कपड़ा' यह कहावत जिसने बनाई होगी वह होगा किसी विलासी राजा के दरबार का विदूषक । दर्ज़ियों और धोबियों ने उसे दीर्घायुलाभ हो इसलिए बहुत सी मानताएँ मानी होंगी । परन्तु आख़िर मर गया बेचारा । बाक़ी वह मर जाने पर भी कीर्ति रूप में जीवित है ही । आज के प्रौढ़ विद्यार्थी—विद्यार्थिनियाँ, और युवक—युवती इस कहावत के बनाने वाले साहित्याचार्य के सच्चे शिष्य हैं । उस आदमी की पुण्यतिथि अभी भी कैसे कहीं नहीं मनाई जाती इसका मुझे आश्चर्य है । कोई कहेगा कि अब यह हज़ार चूहे खाकर तीरथ जानेवाली बुढ़िया बिल्ली रानी है । परन्तु पचीसी की देहरी लाँघने से पहिले ही मेरा मन इस बनाव सिंगार से ऊब गया है । सौन्दर्य, कला, उल्लास ये तरुणों की सप्राणता, सजीवता के लक्षण हैं । परन्तु नटनीपन, कृत्रिमता, उन्माद इन्हीं में उसका रूपांतर होना अच्छा है क्या ?

लगी मैं बहकने । यही होता है मेरे साथ । परंतु तूफ़ान में पड़ी नौका के कप्तान को ध्रुव तारा कहाँ है इस ओर ध्यान रखना चाहिए । आकाश के दूसरे तारकों की ओर देखने से उसे क्या फ़ायदा होगा ?

मैं शायद उस समय दूसरी में थी । लोकमान्य तिलक उसी साल स्वर्गवासी हुए । दादा ने नेतृत्त्व किया और तिलक के विषय में शाला में सभा हुई । वह बात तहसीलदार तक पहुँची । मैट्रिक पास आदमी को अपनी नौकरी कायम करने के लिए अफ़सरों को खुश करने की बड़ी इच्छा थी । उसने कुछ न कुछ उस में दोष निकाला । उसी के कोर्ट में इंदु के बाप का कोई मुक़दमा चल रहा था । किसी ऐसे खेत की, जिसका लगान बाकी था, खड़ी फ़सल उसने ज़बर्दस्ती से कटवा दी थी । वह था आखिर फ़ौजदारी मामला । तह-सीलदार को नाखुश कर के इंदु के बाप का काम कैसे चलता ? बस, उसने

उनके कान फूँक दिए। उसने व्यवस्थापक कमेटी के सभासद के नाते हेड मास्टर को बुरा भला कहा और उसने दादा को जो बातें हो गईं उनके लिए नाक रगड़कर माफ़ी माँगने के लिए कहा।

आग धुँधवाने लगी। दादा घर पर कुछ भी न लिखते, न पढ़ते, चुपचाप विचार करके बैठने लगे। वे ठीक खाना भी न खाते। इस आग में संयोग से घी पड़ा। दादा का एक प्रिय विद्यार्थी चित्रकला की परीक्षा पास हुआ था। उसने तिलक का एक बड़ा भव्य तैलचित्र बनाकर शाला के लिए भेज दिया। वह चित्र शाला के मुख्य हॉल में लगाया जाय ऐसा दादा का कहना था। हेडमास्टर तो वह चित्र लौटा ही देना चाहते थे। बड़े ज़ोरों से वाद विवाद हुआ और शाला के व्यवस्थापक मंडली की सभा की गई। उस सभा में इंदु का बाप बोला—'क्या करना है तिलक भट्ट (ब्राह्मणों के लिए व्यंग में तिरस्कार व्यक्त करने वाला शब्द) का चित्र लगाकर?'

दादा और समय हिमालय की भाँति ठंडे रहते थे। परन्तु अब वे ज्वालामुखी की भाँति भड़क उठे। आगे पीछे का कुछ ख़याल न रखकर वे बिजली की भाँति कड़के—'तो क्या तुम्हारे हमारे जैसे महारों का (अछूतों का) चित्र लगाया जाय?'

वह दिन दादा ने कैसे बिताया वे ही खुद अकेले जाने। रात को मैं जल्दी सोई। कहीं तो भी कुछ खटका हुआ और मैं चौंककर जाग उठी। देखा तो दादा बिछौने पर नहीं थे। उनके कमरे के दरवाज़े में बहुत मंद किया हुआ दीपक मात्र था। मैं उठी और बिल्ली के पैरों से दरवाज़े की ओर गई, धीमे से अन्दर झाँककर देखा तो क्या—?

दादा किसी छोटे बच्चे की भाँति टेबल पर सिर रखकर सिसक रहे थे। मैं एकदम घबड़ा गई। माँ को रोते हुए मैंने एक दो बार देखा था। पर दादा को? नहीं—पुरुष होकर दादा रोते हैं। मेरी आँखों पर मैं भरोसा न कर सकी।

चोर पैरों से मैं बिछौने पर आकर आँख मूँदकर लेट गई। थोड़ी देर बाद दादा भी आकर सोये। परन्तु वे एक से इस करवट से उस करवट पर तिलमिला रहे थे। उस दिन की डायरी में उनका एक एक शब्द उस रात उन्होंने बहाया हुआ एक एक आँसू है।

'त्याग-पत्र दूँ, या क्षमा माँगूँ? त्याग पत्र दिया तो... ? आज चौदह बरस कष्ट सहन कर जिस संस्था से चिपटा, उससे सम्बन्ध तोडना पड़ता है। सम्बन्ध तोड़कर भी क्या करूँगा? चिलम जलाने वाले को लकड़ी के जलते हुए अंगारे लगते हैं। जलकर बची राख का ढेर उसके किस काम का? केवल पेट भर ले कर मैंने इस संस्था में चौदह वर्ष का अपना उत्साह इसमें व्यय किया। परन्तु यह सब आख़िर औंधे घड़े पर पानी के समान ही नहीं तो क्या था? इस देहात में शिक्षा का थोड़ासा प्रसार भी हुआ। परन्तु उसका फ़ायदा भी गरीबों के सिवा अमीरों को ही अधिक मिला। ब्यौपारी और ज़मींदारों के लड़के वकील, डॉक्टर, प्रोफ़ेसर और सब जज बनकर गरीबों को लूटने लगे जल्दी ही। ये सब मेरे शिष्य हैं यह झूठा अभिमान मैं अपने साथ ढोता हूँ। परन्तु मेरे शिष्य गरीबों का दुःख हल्का करने का काम करते हैं क्या?

' विचार करते करते सिर एकदम चकरा जाता है। मैं फ़क़ीरी खुशी से अपने ऊपर लेकर इस गाँव में आया। साथ के लोग साथ छोड़ गए, परन्तु शाला नहीं छोड़ी। नए लोग लेकर उन्हें मेरे ही साथ साथ संस्था में समान अधिकार दिए। गाँव के लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उन्हें हक़ दिए। यह पूँजीपति और कौन हैं? इसी गाँव के अमीर! जिसके समूचे जाग्रत जीवन की क़ीमत तिलक की निद्रा के एक क्षण के बराबर भी नहीं होगी ऐसा एक मूर्ख मनुष्य केवल धन के ज़ोर पर ' क्या करना है तिलक भट्ट का चित्र शाला में लगाकर? ' ऐसा प्रश्न पूछे और मेरे सिवा शेष सब अध्यापक वह प्रश्न चुपचाप सुन लें। नहीं, दो चार शिक्षकों ने उसकी हाँ

में हाँ मिलते हुए व्यंग स्मित भी किया। मैं सारस्वत ब्राह्मण होकर भी तिलक का भक्त हूँ यह मेरे सहकारियों के लिए हँसी का विषय है। जहाँ अध्यापकों के रक्त में भी यह जाति द्वेष का जहर घुसा हुआ है, वहाँ व्यौपारियों और अन्य लोगों की क्या कथा? पहले उस चंद्रकान्त को 'भट्ट' कहकर इंदु ने चिढ़ाया था न। आज उसका बाप अजरामर कीर्ति करने वाले एक महा पुरुष को 'भट्ट' कह गया। बच्चों से बूढ़ों तक— ना, ना यह सब असह्य है।

'तो क्या हमारे तुम्हारे जैसे महार अछूतों का चित्र लगाया जाय?' इस उत्तर के लिए उस श्रीमान की क्षमा माँगूँ? इससे तो महारों की ही क्षमा माँगनी चाहिए! महारों से उनकी तुलना कर के मैंने महारों का ही अपमान किया है।

'त्याग-पत्र? परन्तु त्याग-पत्र के बाद — दूसरी नौकरी जल्दी न मिली तो — उल्का को यह बारहवाँ साल' बस – और चार बरस के बाद उसकी शादी का सवाल सामने आ जायगा। क्या करूँ?'

१०

दादा के उस रोने का प्रभाव मेरे मन पर बहुत हुआ। एक क्षण में मैं कितनी बड़ी हो गई। लड़कों को 'हम सदा बड़े बनें' ऐसी इच्छा होती है। परन्तु बड़े बनकर भी करें क्या? आखिर रोना ही है न? यह प्रश्न मेरे मन में बार बार आने लगा।

चंद्रकान्त की याद मुझे कभी कभी आती थी। परन्तु हाँ, बहुत कम – कभी कभी। बंदरगाह से दूर जानेवाली नौका जैसे धीमे धीमे एक बिंदु के समान दिखाई देती है उसी प्रकार उसकी स्मृति–मूर्ति दिखाई देती थी। थोड़ी देर बाद वह अदृश्य होने ही वाली है, ऐसा मुझे लगता। हाँ, दीया बुझने से

पहिले जैसे बड़ा होता है उसी के समान यह मूर्ति भी जाते जाते दो बार मुझे बिल्कुल स्पष्ट दिखाई दी।

'आनन्द' (बच्चों का एक पत्र) में 'मैं आगे क्या बनूँगा?' इस विषय पर बाल-बालिकाओं के लेख मँगाए थे। मेरा लेख आया होगा इस आशा से मैंने वह अंक उत्सुकता से उठाया। परन्तु मेरी जैसी 'झाँसी की लक्ष्मीबाई' बनने वाली लड़कियाँ शायद संपादक को बहुत मिली होंगी। हाँ, लेख छपकर न आने से जो मुझे दुख हुआ, उसकी पूर्ति एक दूसरी बात से हो गई। लड़कों के लेख में पहले ईनाम का लेख था–'मैं टाल्स्टॉय बनूँगा' इस विषय पर। टाल्स्टॉय का नाम उस घड़ी तक मैंने सुना ही नहीं था। परन्तु नीचे लेखक के नाम की ओर मेरी दृष्टि जाते ही '–चंद्रकान्त'– पढ़कर मुझे उतना ही आनन्द हुआ जितना मेरा स्वयं का लेख छपकर आता तो होता!

दादा ने टाल्स्टॉय की जीवनी मुझे बताई, तब चंद्रकान्त की उस विचित्र इच्छा की पहेली सुलझ गई। परन्तु उसी समय मेरे मन में भी एक शंका निर्मित हुई। मैंने दादा से पूछा 'इंदु के बाप को क्यों नहीं टाल्स्टॉय बनने की इच्छा होती?'

दादा सिर्फ़ हँसे। परन्तु उस हँसने का अर्थ मैं समझ गई। टाल्स्टॉय बनना ऐसा आसान काम नहीं था। अनजाने अभिमान की तरंग मेरे मन में उछल गई – न होगा आसान! परन्तु हमारा चंद्रकान्त तो टाल्स्टॉय ही बनेगा।

उसी दीवाली में बुआ और वसंत हमारे यहाँ रहने के लिए आये। मेरे जन्म से मैंने उन्हें कभी नहीं देखा था। मेरे नामकरण संस्कार दिन पर उन्होंने मेरे यहाँ भोजन किया था – यह बात अक्षरशः सत्य थी। परन्तु दादा ने पुनर्विवाह किया था, इस कारण से उन्हें दादा के यहाँ रहना बिल्कुल पसंद नहीं था। घाट पर के कोई कीर्तनकार सावंतवाड़ी में बड़े प्रसिद्ध थे।

उनका गुरुपदेश बुआ ने लिया था, इसलिए वे हमारे यहाँ आई थीं। परन्तु वे इतना छूतछात मानती थीं कि खुद पका कर खुद ही उसे चूल्हे से उतार कर खाती थीं। इस कारण से दादा को भी उन्हें बुलाना अच्छा नहीं लगता था।

परन्तु गुरुमाता के गुस्से की चिंता न करते हुए वे उस साल आईं। कारण भी वैसा ही था उन्हें। वसंत मैट्रिक की कक्षा में था। घर के घर में पढ़ता रहा इसलिए उसकी इतनी पढ़ाई हो गई। परन्तु अगले साल उसे कॉलेज में जाना था, वह खर्च कैसे उनसे झिलता? कीर्तनकार साधुजी का उपदेश इस मामले में काम न आनेवाला था।

बोलते बोलते दादा ने कहा—'तू आगे पढ़ेगा यह तो निश्चित है न वसंत? आजकल तो सरकारी स्कूल और कॉलेज खाली होने की बड़ी धूम चल रही है।'

'मैं चंद्रकान्त नहीं हूँ।'

उसे आगे न बोलने देते हुए दादा ने पूछा—'कौन चंद्रकान्त?'

'यहाँ वह भोजनालय चलाने वाला एक भट्ट है न? उसका भाँजा। गए साल मराठी सातवी उसने पास किया। माँ मराठी मास्टर बनने को कह रही थी तो सुना नहीं! झट से तीन कक्षा अंग्रेज़ी कर के इस साल वह चौथी में भरती भी हो गया हमारी शाला में।'

'फिर?'

'फिर क्या? परसों उसने स्कूल छोड़ दिया। देशभक्त बन गए हैं साहब। सफेद टोपी लगाते हैं। व्याख्यान देते हैं। तुम गुलाम हो — कहकर हमें गालियाँ देता है।'

वसंत के आगे के बोलने की ओर मेरा ध्यान नहीं था। चंद्रकांत के इस नये रूप का कल्पना चित्र मैं मन में रँग रही थी।

भैयादूज के इस रोज़ मैंने वसंत की आरती उतारी। उस दिन बुआ

बोली 'क्यों वसंत, जनम भर मैयादूज की यह आरती ही लेते रहोगे क्या इस तारा से?'

माँ ने कहा—'वाह, वकील बनने वाला है वह। मैयादूज के दिन की वसूली वह एक दिन पहिले ही करेगा।'

ननंद भौजाई बड़े आनंद से हँसने लगीं। मैयादूज को बहिन आरती उतारती है; उसी प्रकार से प्रथमा को पत्नी आरती उतारती है, यह मेरे ध्यान में आते ही मैं भी कुछ लजा गई। वसंत मेरा दूल्हा बनेगा। उसमें क्या बुरी बात थी? वह अच्छा गोरा चिट्टा था। पढ़कर वह आगे वकील बनने वाला था—

बुआ ने वसंत की आगे की पढ़ाई का प्रश्न दादा के सामने रखा। उनके मन में उस समय चंद्रकान्त के बारे में विचार चल रहे थे या नहीं पता नहीं। परंतु पहिले तो उन्होंने टालमटोल की। माँ ने बुआ का समर्थन किया देखकर उन्हें बहुत अचरज हुआ ऐसा जान पड़ा। आखिर वसंत ने मैट्रिक में अगर ऊँचा स्थान पाया तो हम प्रतिमास दस रुपये देंगे ऐसा उन्होंने कबूल किया। वसंत के घर की आमदनी बहुत साधारण सी थी।

'कुछ बेकारी में नहीं जाएँगे तेरे पैसे?' बुआ ने दादा से कहा।

'आगे का दहेज पहले दिया इससे क्या होता है?' माँ ने कहा।

स्त्रियों की यह दूर दृष्टि देखकर दादा को हँसी आ गई। दादा क्या हँसे! भवितव्यता हँसी थी।

वे शादी और दूल्हे की बातें मैं जल्दी भूल भी जाती। परन्तु उन बातों का मेरे मन पर गहरा संस्कार हो ऐसी परमात्मा की इच्छा थी। जल्दी ही निरा की शादी तय हुई। सावंतवाड़ी रियासत के आंत्रेगाँव नाम के देहात में वह था एक पटवारी। निरा को देखने आया तब निरा की माँ उसे दादा से मिलाने ले आई। उस रूप को देखकर यह भैंसा निरा का भावी पति होता इस कल्पना से मेरा कलेजा जैसे चिर गया। मोटा मोटा क्रूर चेहरा, बात से

मोटा शरीर, बड़ी घनी मूँछें, और शराबी की सी आँखें !—यह सब देखकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए। परन्तु निरा की माँ को यह सब कैसे दिखाई देता ? उसकी आँखों में तो उसका बड़प्पन बस गया था। यह सारा गाँव बेलगाँव में रहने वाले एक अमीर ज़मींदार के आधीन था। निरा का भावी पति देहात में रहकर उस ज़मींदार की वसूली के काम में मदद करता था। 'बन्दे' कुल की लड़की को इतना अच्छा दूल्हा मिलने पर दूल्हे की ओर और उम्र की ओर देखता है कौन ? दादा भी क्या बोलते ? उन्होंने निरा की माँ से कहा—'ज़रा विचार कर के करो जो कुछ करना हो।'

उसने कहा 'ब्रम्हेसर को प्रसादी लगाती हूँ।'

देवता को प्रसादी लगाते हैं यानी क्या करते हैं यह मुझे भी देखना ही था। मैं दादा को पूछकर निरा और निरा की माँ के साथ देवालय गई। कितने सारे लोग मंदिर में देवता के आगे हाथ जोड़कर बैठे थे। उस भीड़ भाड़ में निरा की माँ को पूछता है कौन ? पंडे बीच बीच में शिवजी की मूर्ति पर चावल चिपका रहे थे। कोई चावल गिरा कि 'बाईं ओर से तीसरा', 'पेटका' ऐसा कुछ तो भी कहते। वह फिर चावल लगाते। किसी की फरियाद देवता को सुनाते और हाथ जोड़कर 'हाँ सायबा' कहकर वह आदमी उसके साथ साथ बोलता। मैं मंदिर में थी इसलिए, नहीं यह सब कवायद देखकर मैं खिलखिलाकर हँसे बिना न रहती ! दादा कभी भी मंदिर में क्यों नहीं जाते यह पहेली मैं यह दृश्य देखकर बूझ सकी।

बड़ी देर तक राह देखने के बाद निरा की माँ का काम पंडे ने लिया। अमुक अमुक से मेरी बेटी का ब्याह तय हुआ है, उसे वह शुभ है ? इस आशय का प्रश्न उसने देवता के आगे रखा। कहीं का एक चावल गिरा और 'देव राज़ी है।' कहकर पंडे ने उसके हाथ में एक फूल और थोड़ी राख डाली।

मंदिर से बाहर निकलते समय इंदु किसी आदमी का हाथ पकड़कर अंदर

आती दीख पड़ी। मैं समझी शायद उसके पिता हों। एक ओर जाकर मैंने उससे सहज पूछा—'शायद तेरे पिताजी हैं।'

'उन्हें कहाँ फुरसत है यहाँ रहने की? वे तो सदा बंबई में ही रहते हैं। ये दूकानदार हैं हमारे पडोसी। उनका हमारा बड़ा घरोबा है।'

उस आदमी के और इंदु के चेहरे में इतनी समानता थी कि कह नहीं सकती। लौटकर देवता को प्रसाद लगाने की सुविधा नहीं थी यह अच्छा था नहीं तो 'यह आदमी इंदु का बाप है या नहीं' ऐसा सवाल देवता से पूछ बिना मैं न रहती!

और ऐसा सवाल मैं पूछती भी तो देवता क्या जवाब देते?

११

अगले तीन चार साल कैसे जल्दी से बीत गए। मेरा पढ़ना, दादा का मुझे पढ़ाना, माँ का नित्य रसोई बनाना और वसंत का प्रतिमाह दादा से दस रुपये लेना नियमित रूप से चलता रहा। इंदु का बाप बंबई में सट्टे से पैसे कमाकर त्र्यम्बकेश्वर के मेले में सैंकड़ों रुपयों की आतिशबाजी उड़ा देता था। निरा मायके आती तो पति को गालियाँ देती, महोदय पर्व की भाँति बुआ कभी कभी बीच ही में अवतरित होती माँ को यह बात भी सुनाती कि वसंत के लिए लड़की वालों की ओर से बड़े बड़े दहेज के प्रस्ताव आ रहे हैं।— और चंद्रकान्त?

इस दिनों मुझसे अधिक दादा को चंद्रकान्त की याद आती। समुद्र पर टहलने के लिए जाने पर वह दूर की चट्टान दिखाई दी कि उसके सिपाही के गाने की पँक्तियों को अनजाने मन गुनगुनाने लगना, अथवा उसके होटल वाले मामा को तरोई के सिवा और कोई साग कभी मिलता ही नहीं ऐसा मजाक कहीं सुना कि झट से चंद्रकान्त की मूर्ति मेरी आँखों के सामने

खड़ी हो जाती। परन्तु बचपन में मन बालू के समान होता है। कोई भी नाम उस पर जितना जल्दी बनाया जा सकता है, उतना ही जल्दी से वह पानी या हवा से मिट भी जाता है। आदमी जैसा जैसा बड़ा होता है वैसा वैसा वह रेत के कंकर से पत्थर बन जाता है।

अभी भी चंद्रकान्त के आए हुए वे दोनों पत्रों का मुझे स्मरण होता है। पहले पत्र में वह मुल्सी आंदोलन में शामिल होने का ज़िक्र था। उसने दादा को लिखा था–'मेरा मृत्यु जल में है ऐसा ही जान पड़ता है। माँ पर गुस्सा होकर मैं समुंदर में प्राण देने गया उस वक्त आपने ही मुझे बचाया। परन्तु अब मुल्शी के इस धरण में मैं अपनी जान की बाज़ी लगाऊँगा। गरीब किसानों के लिए, कंगाल इन्सानों के वास्ते – यह आंदोलन है। मेरी कुर्बानी से देश की अगर कुछ भलाई हुई तो यह सब तुम्हारी कृपा का फल होगा। आपकी उस रोज़ समुंदर किनारे मुलाक़ात न होती तो —

'उल्का बहिन का क्या हाल है? क्या उसे कभी मेरा स्मरण होता है? उससे कहें कि मुल्सी आंदोलन में प्राण का बलिदान भी अगर मैं करने वाला हूँ तो भी तुम्हारे शादी के लड्डू खाए बिना मेरे प्राण न जाएँगे मैं जाति का 'भट्ट' जो हूँ। अनपेक्षित शादी पहले ही चल बसा तो खयाल रहे मैं पिशाच बनकर आऊँगा तुम्हारी शादी में।

'इस आंदोलन के लोगों में वक्त बड़ा अच्छा कटता है। दादा, तुम्हारे उस स्कूल में और शिक्षा में क्या रखा है? छोटा मुँह बड़ी बात होगी, लेकिन कहने का धीरज कर रहा हूँ। अंग्रेज़ी पाठशाला प्रस्थापित करके क्या आप किसानों को सुखी कर सके? उल्टे, मध्यम वर्ग बढ़ाने में सिर्फ आपने सहायता की। यहाँ हमारे शिबिर में एक मज़ाकी बूढ़े दादा हैं। पूने के एक बहुत बड़े इतिहास संशोधक हैं वे! 'पांढर पेशा' शब्द की उत्पत्ति वे बड़े मज़े की सुनाते हैं। कहते हैं, इन लोगों के वस्त्र इतने सुफेत कैसे रहते हैं, क्या यह मालूम है तुमको? एक अद्भुत साबुन पाया है उन्होंने! किसान

और मज़दूर इनके मकान धोकर जो पानी आता है वह एक बहुत बड़े पात्र में उबालना और उस पात्र का नाम है समाज व्यवस्था! पानी उबल कर उसका बाष्प बने इसलिए नीचे रस्मरिवाज की उपलियाँ और मज़हब की लकड़ियाँ ये लगातार जलाई जाय। कभी लकड़ी जल नहीं रही हैं ऐसा लगने पर, उस पर कानून का घासलेट खूब डाला जाय। यह पानी उबल कर बिल्कुल तेल की तरह होता है। इस तेल में शिक्षा का सोडा और संस्कृति की सुगन्ध डालने से वह अद्भुत साबुन तैयार हो जाता है!

'पत्र लम्बा हो गया, परन्तु एक बात तो लिखने की बाकी रह ही गई। यहाँ शिबिर में कविता और गाने गा कर मैं सबका सदा मनोरंजन करता हूँ! बुड्ढे आदमी तो मुझे हमेशा कहते हैं—'अरे चंद्रकान्त, गंधर्व नाटक मंडली में जाना चाहिए था तुझे, सो तू यहाँ कैसे चला आया?' मुल्सी सत्याग्रह की पदावली में मेरे भी चार पाँच पद हैं। वह पदावली मैं जल्दी ही तुम्हारे पास भेज दूँगा।

'उस दिन ऐसे ही गाने गा रहा था मैं। उन्हीं गानों को एक सा गाने की ऊब से मैंने एक वाद विवाद बना के सुनाया—'मेंढक और शरारती लड़के' नामक वाद विवाद है वह। उल्का ताई को वह अभी भी याद होगा। मावलों के छोटे छोटे लड़के जमा करके उन्हें बनाया मेंढक और मैं बना मेंढकों का नेता। सफेद पोश सत्याग्रही बने पत्थर मारने वाले लड़के। उन्हों ने पत्थर मारने पर मैं—

*'*खेळ होतसे सुंदर तुमचा बाळांनो जरि अहा*
अमुचा जीव जातसे पहा'

यह कड़ी बड़ी अकड़ से कहता था। कोंकन में भजन गाते हैं न? उसी रीति से वे सब लड़के मेरे बाद वह एक स्वर से गाते थे। यह संभाषण सब

* खेल हो रहा सुंदर यद्यपि बालक गण आपका अहा!
जा रही जान हमारी यहाँ!

को बहुत प्रिय था। हमारे हास्य-प्रिय नाना तो कहते-' इस संभाषण के आगे गन्धर्व कंपनी का ' स्वयंवर ' नाटक कुछ नहीं। स्त्री पात्रों के विना यह मेंढकों का नाटक इतना जमा। और कहीं अगर चंद्रकान्त के साथ कोई लड़की होती तो, तो बहुत आनन्द आ जाता।'

' उसी समय मुझे उल्का ताई की याद आ गई। मराठी शाला में उसकी सहायता से कितना अच्छा हुआ था यह पद्य-संवाद। परन्तु उल्का ताई यहाँ क्यों आने वैठी है? वह तो होगी कोंकन के सुंदर आमों में दंग! मुझे आज-कल यहीं के कँटीले करौंदे अधिक प्रिय लगने लगे हैं।'

यह पत्र पढ़कर दादा ने हँसकर कहा-' व्यर्थ जायगा इस लड़के का जीवन! बुद्धि है। परंतु मार्ग? चिठ्ठी क्या अकड़ से लिखी है। अच्छा लेखक या संपादक बना होता-- '

मुझसे न रहा गया। मैंने दादा से पूछा-' फिर आप लेखक बनना छोड़कर देहात में मास्टर क्यों बने?'

' बोलने से करना अच्छा है इसलिए- '

' चंद्रकान्त भी कहाँ चुप बैठा है-?'

' परन्तु शिक्षा की बात दूसरी है और यह दूसरी। तू है नई पीढ़ी की। उस संवाद की भाँति इस कहानी में भी तू उसी के साथ जायगी क्या?'

छुट्टियों में दादा से मिलने उसी दिन शाम को वसंत आया था। चंद्रकान्त का पत्र एक सा मेरे मन में घूम रहा था। मैंने वसंत से पूछा ' तुम्हारे पास मुल्सी की पदावली है?'

' मुल्सी? कहाँ की मुल्सी?'

' वहाँ देखो बड़ा सत्याग्रह चल रहा है।'

' हाँ! है ज़रूर कुछ न कुछ गड़बड़ वहाँ। जान देंगे पर ज़मीन न देंगे-ऐसा कुछ लोग छापते रहते हैं। इस तरह की नाटकीय भीम गर्जना करने का ज़माना पुराना हो गया है। अब तो लोगों को नए नाटक चाहिए, जैसे

गंधर्व का 'स्वयंवर'! यह कहकर वह उस शृंगार पूर्ण नाटक का एक पद गुनगुनाने लगा। 'नृपकन्या तव जाया–'

'वह पदावली मुझे ला देगा क्या?'

'कैसे गन्दे पद होते हैं कौन जाने! उसे क्या काव्य कहते हैं कोई? 'काहे के लिए। देश के लिए। मुल्सी के पेट लिए'–ऐसा ही कुछ गल्त सल्त उसमें लिखा गया होगा।'

मुझे चुप देखकर उसने पुनः कहा–'दादा के पास कविता की किताबें क्यों कम हैं?'

'मैंने वे सब पढ़ी हैं।' मैंने रोष-भरे स्वर में जवाब दिया।

'नई कविताएँ पढ़ने की तुम्हें इच्छा हुई है क्या? चलो लिख लो—'

वह एक एक पँक्ति गाने लगा—

*'*भिल्लीण न तू बाणा न शिकारी.........*

तो एकच प्यारा बोल.........

कुठवर पाहूं वाट सुंदरा जीव कीं हो शिणला—

यह कविताओं की खिचड़ी देखकर मुझे हँसी आ गई।

नाटक, सिनेमा, कविता, इत्यादि बातों के बारे में ही वह एकसा बोल रहा था। समुद्र के पानी पर सूर्य किरण पड़ने पर जैसे वह चमकता है, वैसा ही मुझे कॉलेज का जीवन लगा। दादा की मुद्रा से जान पड़ता था कि उन्हें वसंत के वर्णन पसंद नहीं हैं। दूसरे दिन, टहलने जाते समय वसंत जल्दी चलने लगा। ईर्ष्या से मैं भी जल्दी पैर उठाने लगी। दादा पिछड़ गए। थोड़ी देर बाद अपनी चाल मंद कर के वसंत बोला–'तारा, तुम इतनी कैसी बुध्दू बनी रही अब तक?' मेरी समझ में उसकी बात नहीं आई इसलिए मैं उसकी

* 'तू किरातिनि भी नहीं, तेरा शिकारी नहीं बाना......

'वह एकहि प्यारी बात......

'कब तक राह तुम्हारी देखूँ, प्राण थक गए रे'—

और सिर्फ देखती रह गई। वह हँसते हँसते बोला 'क्या तुम्हारी पोशाक ? और कैसा यह जूड़ा ? विक्टोरिया रानी की शादी के समय मानो तुम उसकी साथिन थी ? दुनिया कितनी आगे जा रही है ?—'

'हमारी कक्षा में इंदु को देख, और फिर कह कि दुनिया आगे जा रही है या पीछे !' मैंने व्यंग से कहा। वह अपने ही रंग में आगे बोल रहा था—'बाल गंधर्व के नाटक देखे हैं तुमने ?'

मैंने नकार सूचक गर्दन हिलाई।

'वे देखे होते तो ऐसी रहती ही नहीं। जूता पोंछने वाली भामिनी की वह लचक और 'दादा, वे आए न' कहने वाली रुक्मिणी का कह लजाना, सचमुच, नाटक कंपनी से तो अच्छा होता यदि बाल-गंधर्व विवाहयोग्य वधुओं की एक शाला खोलते ! कम से कम पोस्ट द्वारा ऐसी लड़कियों को शिक्षा देते तो हमारे जैसे युवकों पर उनके बड़े उपकार होते।'

'तुम्हारा व्याख्यान समाप्त हुआ ?' मैंने चिढ़कर कहा। उसके बोलने का मुझे ऐसा गुस्सा आ रहा था। अच्छा उसका मुँह रंग दूँ ऐसी इच्छा हो रही थी। परन्तु एकदम मन में आया—इसी के साथ मेरा आगे ब्याह होनेवाला है न ? शादी को जो बेड़ी की उपमा दी जाती है वह यों ही नहीं। मैं बिल्कुल चुप रही।

चंद्रकान्त की दूसरी चिठ्ठी सात आठ महिने बाद आई। मुल्शी सत्याग्रह में छः महिने सज़ा भुगत कर वह बाहर आया था—'जेल के छः महिनों में मेरा पुनर्जन्म हुआ। मुल्शी की लड़ाई सफल नहीं हो सकती यह मैं समझ गया। तिलक ने जेल में 'गीतारहस्य' लिखा। मुझे गीता समझने लायक भी संस्कृत नहीं आती है अभी। तब मेरे विचारों को बहुत अधिक क़ीमत नहीं है यह सच है। परन्तु शाम को पाँच बजे से सबेरे तक कोठरी की कालिमा में पड़े पड़े मुझे लगा कि मुल्शी का आन्दोलन सिर्फ मुल्शी का नहीं — सारे हिंदुस्तान का है। कदाचित् सारी दुनिया का है। पेट के

लिए मिहनत करने वाले गरीबों के रक्त–मांस के कीचड़ में से ही कमल पर बैठने वाली लक्ष्मी उत्पन्न होती है। यह कीचड़ न हो इसके लिए क्या किया जाय? मेरे जैसे सत्रह अठारह बरस के लड़के को क्या उपाय सूझेगा? रवींद्रनाथ के शांति–निकेतन में जाकर इस विषय का खूब गहरा अध्ययन किया जाय ऐसा मेरा मन होने लगा है। देखूँ क्या क्या होता है?'

पत्र पढ़कर दादा ने कहा–'धुमकेतु है बस।'

धूमकेतु क्रांति का दूत होता है ऐसा पुराना विश्वास है।

१२

उस समय मुझे दादा पर गुस्सा नहीं करना चाहिए था। परन्तु इंदु किसी तरह पास हो गई और फिर भी छठी की पढ़ाई के लिए बाहर किसी बड़े शहर में जानेवाली थी और मेरा पहला नंबर आकर भी मुझे अपने घर में ही बैठे रहना होगा, इस विषमता का मुझे बहुत दुख हुआ–उस बात की याद से, प्रत्येक शब्द से मुझे शर्म मान पड़ती है। परन्तु मनुष्य की ऐसी ही बात है। पक्षी की तिलमिलाहट देखकर उसे पत्थर क्यों मारा इस बात का उसे पछतावा होता है।

तब मेरा पंद्रहवाँ वर्ष पूरा हुआ था, सोलहवाँ शुरू हुआ था। दादा ने मुझे लिखा पढ़ाकर 'पंडिता' बना दिया है एसा माँ सदा कहती थी। उस दिन गुरु की विद्या का प्रयोग गुरु पर ही किया गया।

मैंने गुस्से से लाल होकर दादा से पूछा 'लड़के लड़कियों में भेदभाव करते हैं, यह तुम्हें पसन्द नहीं है न दादा?'

दादा ने प्रश्नार्थक दृष्टि से मेरी ओर देखा। मैंने बहुत गुस्से से कहा–'आज मेरे बजाय कोई लड़का होता तो? पाँचवी कक्षा (मिडिल) पास कराके क्या उसे घर पर ही रखते?'

'यह भेदभाव मैं नहीं करता, उल्का !'

'फिर समाज करता होगा। जो कहीं भी कोई दोष दिखाई दे, समाज के माथे मारो।'

'ज़रा सुन तो लो मेरी बात !'

'मैं नहीं कुछ सुनना चाहती। इंदु चली देखो बंबई। दो बरस में वह मैट्रिक होगी। बी. ए. भी शायद आगे कर ले। और मैं केवल अपनी प्रयोग शाला में भात पकाने का प्रयोग करती रहूँगी।'

'उल्का, बेटी उल्का, तू अभी बहुत छोटी है।' मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए दादा ने कहा। उनका कंठ गद्गद् हो उठा था। उसकी चेतना आते ही मैं चौंक पड़ी ! मुझे पास खींच कर दादा ने कहा—'तुम और निरा एक ही उम्र की हो न ?'

'हाँ।'

'निरा ने मराठी दूसरी में ही स्कूल क्यों छोड़ दी ?'

'उसका बाप मर गया इसलिए—'

'—और तेरा बाप ज़िंदा होकर भी मरे हुए के ही समान है।' यह वाक्य कहते हुए दादा ने हँसने का यत्न किया। परन्तु अंधेरा जुगनूँ की चमक से क्या और भी भयानक नहीं दिखाई पडता ?

दादा के गले से लिपटकर मैंने कहा 'नहीं जी, ऐसा न कहो। मेरी ग़ल्ती हुई। मैं फिर ऐसा हठ नहीं करूँगी।'

'तुम नहीं चूकी, बेटी, मैंने ही ग़ल्ती की। मेरे जैसे गरीब ने पहले तो शादी ही क्यों की ? तो फिर बच्चे क्यों होने दिए ? और उन में भी बच्ची को जन्म क्यों दिया ?'

मुझे ऐसा लगा जैसे मेरी साँस घुट गई हो। परन्तु मेरे चेहरे की ओर ध्यान जाते ही दादा ने अपने हृदय में से बहने वाले ज्वालारस के प्रवाह को एकदम रोक लिया। जैसे मेघाच्छन्न आकाश में से एकदम सूर्य किरणें चमक

उठीं हों। वे बोले 'सच कहूँ तुझे? तुझे छठी कक्षा में भेजना यानी तुझे दूर रखना है। दूर रखना मुझ से कैसे बर्दाश्त होगा?'

'अर्थो ऽ हि कन्या परकीय एव' यह श्लोक चार महीने पहले दादा ने ही हमें सिखाया था। उसका फायदा उठाकर मैंने कहा—'लड़की तो दूसरे का धन है!'

'मैं मानता हूँ, परन्तु अभी तो वह मेरे ही हाथ में है। जो जितना मिल सकता है उतना सुख का ब्याज क्यों न वसूल कर लिया जाय।'

'अवश्य, अवश्य! और विवाह के समय घरजमाई देख लें तो बिल्कुल पूरा सवाया सूद मिल जायगा!'

हँसते हँसते दादा ने नीचे की पँक्तियाँ दुहराईं—

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु
संदृश्यते किमुत या प्रतिबोधवत्यः ॥

बादल नीचे उतर आने पर हवा में जैसे थोड़ी शीतलता आती है इसी प्रकार से इस संवाद से मेरे गुस्से का पारा नीचे गिरा। परन्तु मन की टीस किसी भाँति कम न हुई। रात को बिछौने पर कितनी देर तक मैं तिलमिला रही थी। इंदु आगे पढ़ेगी! और मैं? मेरे नसीब में आगे पढ़ाई नहीं है। नसीब! शराब के नशे में आदमी क्या कर रहा है यह उसे जान नहीं पड़ता। ईश्वर का करना भी बहुत कुछ इसी तरह का होता है। गुण देखकर वह नसीब का बँटवारा कभी नहीं करता। ईश्वर भी एक शराबी है निरा!

मेरी आँखें कब जुड़ीं मुझे याद नहीं। परन्तु एक विचित्र सपने से मैं चौंक कर जाग पड़ी। वसंत कह रहा था—'मैं अब एल. एल. बी. हो गया। मुझे अच्छी पढ़ी लिखी पत्नी चाहिए। उसने मुझे दूर झिड़क दिया और इंदु का हाथ पकड़ लिया।

जगते ही मैंने दादा और माँ कुछ बोल रहे हैं ऐसा सुना और मैं कान दे कर सुनने लगी।

'क्या करना है लड़की को सिखाकर? कहीं नौकरी करने तो भेजना ही नहीं है?'

'परन्तु उसकी हविस जो है—'

'पैसा खूब हो, फिर चाहे जितनी हविस' माँ ने अपने आप से जैसे कहा हो।

'नहीं कौन कहता है? परन्तु अपनी इकलौती लड़की — लड़की क्या? वह तो अपना लड़का ही है।'

हँस कर माँ ने कहा—'हमें अपनी सन्तान के बारे में क्या लगता है, यह कौन पूछता है। शादी के बाज़ार में गाहक की इच्छा क्या है यही जो देखना पड़ता है।'

बाज़ार – गाहक! प्रत्येक शब्द हमारे शरीर पर गिरने वाला लाल लाल अंगारा था। मेरी दृष्टि से विवाह बाज़ार नहीं था; सुंदर बगीचा था। परंतु—

'वसंत को दस रुपये देना बंद कर दें तो?' दादा ने कहा।

'वह कैसे बंद किया जा सकता है? एक नाल के लिए सारा राज्य जो चला जायगा। ननद ने तारा को बहु बना लेने का मुझे वचन दिया है।'

परंतु उल्का को क्या उसके हाथ के नीचे सुख मिलेगा? आका क्या है? कुत्ते की पूँछ की तरह टेढ़ी हैं, वह भी कटी हुई नहीं।'

माँ ने हँसत हुए कहा—'यह सब सच है। परंतु लड़की को और कहाँ कोई वर मिलेगा हमारी जाति में?'

हाँ! यह भी सच ही है। पहिले तो बारदेशकरों की जात है ही मुठी भर। उसमें हमने विधवा विवाह किया है। और उसमें भी मैं बारदेशकर, तुम साष्टीकर।'

माँ की हिचकियाँ शुरू हो गईं। 'वही मेरे मन में कभी से घुमड़ रहा

है। मैं गई अपना सुख देखने। तुम्हें विधवा से बड़ी सहानुभूति जो फूट पड़ी। मुझ चांडालिन ने शादी ही न की होती तो।'

'ऐसा कुछ पागलों की तरह नहीं बोला करते—' माँ को समझाते हुए दादा ने कहा। उनकी आँखों में भी आँसू भर आए होंगे, ऐसा उनके स्वर से जान पड़ा। मुझे लगा, उठूँ और दादा और माँ के बीच में बैठकर अपना दिल खोलकर रो लूँ, परन्तु उतनी हिंमत न हुई।

मस्तक में विचारों की और आँखों में आँसुओं की भीड़ जमा हो गई।

सब लड़कियों के माँ बाप क्या ऐसे ही रोते होंगे? ना! इंदु के माँ बाप को रोने का क्या कारण? हमारी इंदु खूब सीखेगी और किसी बड़े आदमी की बीबी बनेगी इसी कल्पना से वे नींद में भी हँसते होंगे। और मेरे माँ बाप?

क्यों मैं अभागिन इस तरह जन्मी? परन्तु जन्म लेना क्या किसी के हाथ की बात है? मैं यदि लड़का बनकर जन्मी होती? तो—

एकदम मुझे चंद्रकान्त की याद आ गई। चंद्रकान्त इतना मेधावी! परन्तु उसकी शिक्षा दीक्षा का भी कहाँ ठीक से प्रबंध हो सका था? अंधेरे में ठोकरें खाता हुआ जैसे राही चलता हो वैसा बेचारा बंगाल में चला गया। दादा के हृदय में प्रेम था, परन्तु जेब में पैसा नहीं था। उन्होंने उसे केवल सहानुभूति भरा पत्र भेजा। उसका मामा तो पूरा घनचक्कर ही था। उसने दादा से आकर कहा—'चंद्रकान्त? बड़ा ही लोफर है वह बदमाश। कहीं किसी नाटक कंपनी में नौकर का पार्ट करता होगा। या फिर किसी दिन जेल जायगा साला! अच्छी पंद्रह रुपये माहवार की मास्टरी करके माँ का पेट भरना छोड़कर चला लंगूर कहीं सत्याग्रह और कहीं असहयोग करने। मास्टर हो जाता तो दो हाथ के अन्न तक चार हाथ कर देता। परन्तु लाट-साहब बहुत अक्लमन्द निकले।'

मैं, चंद्रकान्त, निरा— सब एक ही माला के मणि थे। निरा नीची जात की थी फिर भी मुझ से सुंदर और इंदु से अधिक होशियार थी।

किसी ने पढ़ाया लिखाया होता तो क्या वह सीखती नहीं ? परन्तु शिक्षा तो दूर – न जाने किस रीछ के साथ गिरस्ती करना उसके भाग्य में लिखा था।

मैं लड़की बनी वह दोष नहीं। गरीब की लड़की बनी यह मेरी गल्ती है। दादा ने तो जान बूझकर स्वयं हो कर गरीबी को अपनाया। विधवा विवाह कर के वे सुधार करने गए। परन्तु हमारे समाज में समाज सुधार का अर्थ है हलाहल। अमीरी के कैलाश पर बैठे शंकर ही उसे पचा सकते हैं। दादा को तो वह भान रहा नहीं। और इसी कारण से उन्हें आज अपने सिर पर हाथ टेककर रोता बैठना पड़ा।

मैंने मन में निश्चय किया। मेरे विवाह की इतनी चिन्ता माँ बाप को है न ? मान लो, मैंने विवाह ही नहीं किया तो ? 'लड़की, कुछ नाम सार्थक करने वाली कृति करना' यह गडकरी के शब्द मुझे याद आए। 'नहीं करूँगी विवाह !' मैंने विचारों की पक्की गाँठ बाँध ली।

परन्तु मनुष्य को क्या एक ही मन है ? मैं नहीं समझती ऐसा ? उस दिन सवेरे सवेरे सपना आया, मैं समुद्र में अकेली बहती जा रही हूँ। हाथ थक गए हैं। कोई विराट भयानक तरंग कहीं मुझे डुबाकर अतल में ले जायगी तो अच्छा होगा ऐसा लग रहा था। इतने में वसंत एक सुंदर नौका लेकर मेरे पास आया। उस नौका के एक छोर पर कितनी सुंदर मदन की प्रतिमा थी। मुझे नाव में लेने के लिए वसंत झुका। मैंने अपने दोनों हाथ उसके हाथों में दिए। नौका में एक पैर डालते ही वसंत के अधर मेरे अधरों से मिले। परन्तु इतने में – जागृति के अनुभव के आगे सपने क्यों चाहिए ?

१३

शाला छूटी, पटिया फूटी – बचपन में यह मैं हमेशा कहा करती थी। उस

समय स्लेट पटिया का फूटना बड़ा सद्‌भाग्य का लक्षण लगता था। परन्तु प्रत्यक्ष जब शाला छूट गई तो मन बड़ी ही चिन्ता से भरे बिना न रह सका। शाला की छोटी सी दुनिया मानो पक्षी का घोंसला हो। उसके बाहर इन पंद्रह बरसों में मैंने झाँक कर भी नहीं देखा था। अब एकदम बाहर का दृश्य दिखाई दिया—अथाह नीलाकाश, हवा की स्वच्छंद लहरों के साथ नाचने वाले हरे हरे पत्ते, हँसती हुई धूप, आनंदमय पक्षी! सब कुछ कितना आनंदमय और मनोहर था। परन्तु यह क्या दिखाई देता है नीचे? कोई आदमी! और उसके हाथ में क्या है? बंदूक! बंदूक ऊपर उठाकर वह किस ओर ताक रहा है?

शाला छूट जाने से मेरी पढ़ाई बन्द नहीं हुई। उल्टे वह दुगने ज़ोर से चलने लगी। बचपन से दादा ने मुझ में पढ़ने का चाव ऐसे जगा दिया था कि चाय की प्याली और नई किताब ये दोनों चीज़ें एकसाथ हाथ में पड़ें तो चाय की प्याली ठंडी ही पीनी पड़ती। उस ठंडी चाय में मानों उस पढ़ी हुई किताब की मिठास आ जाती। अब क्या – सारा दिन खुला था। मराठी, अंग्रेज़ी, संस्कृत इन तीनों भाषाओं में, जो हाथ में पड़ जाती वे सब किताबें पढ़ जाने की मैंने जैसे दौड़ शुरू कर दी। सवेरे शाम दादा मुझे सिखाते थे, वह इससे ऊपर! मेरा यह पढ़ने का शौक़ देख कर माँ ने एक दिन कहा—'यह क्या गए जनम की कसर पूरी कर रहे हो?'

'कसर' मराठी में कपड़े को खा जानेवाले कीड़ों को भी कहते हैं। 'यह कसर नहीं है, यह रेशम का कीड़ा है। शहतूत के पत्ते खाएगा और बाद में रेशम देगा।'

माँ आगे कुछ न बोली। परन्तु उसे मेरा पढ़ना अच्छा नहीं लगता था। दादा के एकाकीपन के कारण और विधवा विवाह के कारण सहसा किसी के घर विवाह त्यौहार या फूलों से गर्भिणी के शृंगार आदि उत्सवों में वह नहीं जाया करती थी। परन्तु अब कहीं भी, किसी भी घर का बुलावा हो, वह

मुझे अब विशेष रूप से भेजा करती थी। पहले पहले मुझे इन स्त्रियों की मंडली में बड़ी कुंठा जान पड़ती। वह उनकी ऊल जलूल बातें, पड़ोसी की निन्दा, साज-सिंगार सब कुछ मुझे असह्य जान पड़ता। परन्तु पानी में रहकर मगर-मच्छ से बैर कैसे कर सकते हैं! धीरे धीरे मैं उनमें मिलने जुलने लगी।

छः महीने के अंदर अंदर मुझ में कितना अंतर पड़ गया। शादी न करने का निश्चय न जाने कहाँ और कब वह गया मुझे खुद को याद नहीं। मन के निश्चय को वज्र की उपमा दी जाती है। परन्तु मैं समझती हूँ वह बर्फ के समान होता है। जब तक परिस्थितियों की आग की आँच उसे नहीं लगी तब तक वह मजबूत, जमा हुआ रहता है। आँच लगते ही उसका पानी होने लगता है। और पानी बेचारे का क्या अपना है? उसे जिसमें मिलाओ, वैसा ही उसका रंग हो जाता है।

मेरी केशरचना और वेशभूषा में ही नहीं, तो विचारों में भी क्रांति हो गई। मेरे आसपास, पति की आज्ञा से आनंद से हँसने बोलने वाली बीस पच्चीस बरस की कुमारिकाएँ देखकर मुझे भी विवाह के कल्पना चित्र मन में रंगने में आनंद आने लगा। स्त्रियों के हलदी–कुंकुम (उत्सव विशेष पर स्त्रियों के संम्मिलन का नाम) में जाने वाली किसी तरुणी का गोरा सुंदर बच्चा देखकर मैं भी एक दिन ऐसा ही बच्चा लेकर हलदी कुंकुम को जाऊँगी, यह भावी चित्र मुझे दिवा–स्वप्न की भाँति आल्हाद देने लगा। आईने में बार बार देखकर अपने बाल सँवारने में, समारोह में जमी हुई स्त्रियों के गहने लत्तों का और वस्त्रों का विस्तार–पूर्वक वर्णन माँ के पास करने में– कुरूप और भोंडी महिलाओं के व्यंगों की हँसी उड़ाकर पेट भर हँसने में, किसी के घर की कोई निन्दा सुनने पर उसे बार बार बढ़ा चढ़ा कर और फैलाने में, मुझे जो पहिले घृणा लगती थी अब वह कम हो गई।

उस समय मुझे किसी प्रकार का नशा तो नहीं चढ़ा था, ऐसी शंका मुझे

अब आती है। प्रणय–प्रधान नाटक, उपन्यास और कविताएँ मुझे इतनी अच्छी लगती कि कह नहीं सकती। प्रो. फड़के (मराठी के एक प्रख्यात आधुनिक उपन्यासकार) का एक उपन्यास 'कुलब्याची दांडी' तब मैंने पढ़ा था। उसके पहले ही अध्याय में मैं माणिक से तद्रूप हो गई। नायक जगदीश घुटने टेक कर उसके हाथों का चुम्बन लेता है, यह पढ़ते ही एक कल्पना-चित्र मेरी आँखों के आगे उपस्थित हुआ। उस चित्र की नायिका मैं ही थी और चुम्बन लेनेवाला–चंद्रकान्त की स्मृति की झलक वहाँ आती थी। इतने में वसंत की मूर्ति वहाँ स्पष्ट दिखाई दी। मुझे अपने आप पर गुस्सा आया। उस कल्पना-चित्र के फाड़कर मैं टुकड़े टुकड़े कर दूँ ऐसी इच्छा हुई। परन्तु उसी समय विवेकी मन ने क्रोध-ग्रस्त मन को समझाया–माणिक साँवली है ऐसा उपन्यासकार ने वर्णित किया है। उल्का भी साँवली है न? इस समय से ही शायद यह चित्र उपस्थित हुआ हो।

अब गडकरी की 'गुलाबी कोड़ें' और 'पहिले चुम्बन' (दो प्रणय विषयक कविताएँ) पढ़ते हुए एक अलग प्रकार का आनंद मेरे मन में होने लगा। रवींद्र की कविताएँ और कहानियाँ तो दादा उस समय मुझ से पढ़ा लेते ही थे। अब भी मुझे उस में की कई पंक्तियाँ याद है—

Some one has secretly left in my hand a flower of love
Some one has stolen my heart & scattered it abroad in the sky.
I know not if I have found him or I am seeking him everywhere, if it is a pang of bliss or of pain.

ये गीत प्रेम के नहीं, परमात्मा के हैं ऐसा बड़े बड़े समालोचक कहेंगे। शायद हों! प्रेम और परमात्मा एकरूप हैं यह कल्पना ही शायद ऐसे गीतों से सूझी हो। वह जो कुछ भी हो, अज्ञात प्रियतम के लिए ही क्यों न हो, मधुर आकर्षण की पीड़ा से विव्हल इस वय में यह गान प्रेम के लगते हैं, और इसीलिए अच्छे भी लगते हैं।

मेरी मनोवृत्ति में घटित होनेवाला यह परिवर्तन दादा जानते थे या नहीं, कह नहीं सकती। शायद वे जानकर भी उसे स्वाभाविक ही समझते होंगे। और वैसे देखें तो उसमें था भी क्या बुरा? जीवन को यदि क्रीड़ा की इच्छा कहें तो उसमें क्या ग़लत होगा? खटखटा लकड़ी की गाड़ी, गुड़िया—ये हैं बचपन के खिलौने! यह खेल पूरे हुए कि समवयस्क साथियों के साथ खेल शुरू होते हैं। यह खेल बासी पड़ने पर प्रणय लीलाएँ आरंभ हो जाती हैं। विवाह के बाद बच्चे को खिलाने की इच्छा उत्पन्न होती है। बच्चा होने पर जीवन क्रीड़ा का एक फेरा पूरा होता है। उस बच्चे के रूप में दूसरा फेरा शुरू हो जाता है।

परन्तु उस समय मुझे यह दार्शनिकता नहीं सूझी थी। मेरे अन्तरतल की विव्हलता जानकर यदि कोई मुझे पूछता—'यह उचित है?' तो मैंने उस से निम्न प्रश्नों के उत्तर पहले लिखवाए होते—

वसन्त में कोकिला क्यों गाती है और वृक्षों को बौर क्यों आते हैं?

ग्रीष्म में धुन्धली भी न दिखाई देने वाली बिजली पावस में सहज क्यों चमकने लगती है?

कलियाँ क्यों फूटती हैं?

सरिताएँ समुद्र की ओर ही क्यों बहती जाती हैं?

धरती सूर्य के आसपास ही क्यों घूमती है?

इत्यादि इत्यादि! मेरे प्रश्नों के उत्तर देने के बदले शायद वे मुझे सरल विज्ञान की पोथियाँ पढ़ने को कहते। मैंने अंग्रेज़ी की पाँच कक्षाएँ पढ़ी हैं। परन्तु मेरा पढ़ना कॉलेज के विद्यार्थियों के समान है, शायद इस बात पर उन्हें विश्वास नहीं होता। परन्तु मुझे उस समय मेरी हृदय में जगने वाली अज्ञात हूक का कारण, इन प्रश्नों के उत्तरों में है ऐसा निःसन्देह जान पड़ता था।

उसी समय चंद्रकान्त का एक पत्र सहसा दादा के पास आया। वह पढ़ते

पढ़ते दादा बोले—'सचमुच यह पूरा धूमकेतु है। देखो, जनाब बंगाल में जा पहुँचे हैं!'

बड़ी लम्बी चिट्ठी थी वह।

'प्रिय दादा,

आज शांति-निकेतन में बैठकर शांत मन से यह पत्र मैं लिख रहा हूँ। रवींद्र जैसे विश्व—विख्यात कवि का शिष्य बनने की यह स्वर्ण—सन्धि मुझे कैसे मिली, इस बात का आपको आश्चर्य भी होगा। इस चंद्रबा ने कहीं डाका तो नहीं डाला ऐसी शंका भी आपको आ सकती है। बाकी, चोरी करना गरीबों का जन्मसिद्ध अधिकार ही है। आपका भाँजा वसंत पूना में मिला था इस बीच में। उस से पता चला कि उल्का बहिन पढ़ाई छोड़कर घर पर ही है। मैं अगर शांति-निकेतन तक पहुँच सकता हूँ, तो उसे कम से कम यूरोप में अध्ययन के लिए जाना चाहिए।

'मैं यहाँ आया कैसे यह पहले बताऊँ? मैं मुल्शी सत्याग्रह में गया था, उसका यह फल है। मुल्शी में हमारे साथ में आए हुए वह वृद्ध विनोदी सज्जन। वे पूना के बड़े भारी इतिहास-संशोधक हैं यह मैंने पहिले ही आपको लिखा था। जेल से छूटकर मैं उनके यहीं रहा। उन्होंने मुझे कितने जल्दी अंग्रेज़ी सिखाई। शांति—निकेतन के एक बंगाली अध्यापक मराठों के इतिहास पर कोई ग्रंथ लिख रहे हैं। वे इसी काम से पूना आए थे। मराठी सीखे बिना उनका काम ठीक से आगे नहीं बढ़ पाएगा, ऐसा उन्हें लगा। परन्तु शांति-निकेतन में रहकर मराठी सीखना कैसे हो सकता था? उन्होंने हमारे भीष्माचार्य से पूछा। उन्होंने मेरी और उनकी भेंट करा दी। अर्थात् यहाँ मैं केवल विद्यार्थी के नाते नहीं आया हूँ, आचार्य भी हूँ; उल्का बहन से कहें जब वह मुझे चिठ्ठी लिखे तो मेरे नाम के पीछे आचार्य लिखे बिना मैं उसकी चिठ्ठी न पढूँगा। मेरे खर्च का जिम्मा उस बंगाली प्रोफेसर ने लिया है। मैं अर्थशास्त्र का विशेष अध्ययन करूँगा। पेट की तो

फिक्र ही नहीं है। फिर क्या ? सचमुच, आदमी को पेट न होता तो बहुत अच्छा होता, नहीं ? कितनी पगली कल्पना है ! पेट न होता तो, यह आदमी जीता ही कैसे ? और पेट है तो भी तो प्रश्न उसी तरह शेष है कि वह जिए कैसे ! ईश्वर एक अजीब कतरनी है !

'दादा, यहाँ आने से पहले आपको और उल्का बहिन को मिलकर आऊँ ऐसी कई बार इच्छा हुई थी। परन्तु मन की बेल को कल्पना के फूल लगते हैं। पैसे ? नहीं लगते। अब उस बात की कमी लम्बे-लम्बे पत्र लिखकर पूरी करना चाहता हूँ। बिल्कुल चार पैसे में दो बार मिलने का काम पूरा कर लेने से रेल पर अच्छा बदला ले सकूँगा। क्यों ? है न ? आज ज़रा जल्दी में हूँ ! कलकत्ता जाना है हमारे गुरूजी के साथ। परन्तु जाते जाते एक बात लिखता ही हूँ। मुझे अभी बँगला ठीक से आती नहीं परन्तु एक बँगला मासिक के नए अंक से एक कहानी मेरे मित्र ने पढ़कर सुनाई ! मेरे यहाँ के बहुतसे अध्यापकों को भी वह कहानी बहुत अच्छी लगी है। बँगला ठीक से आने पर मैं अनुवाद करके ही भेजूँगा। आज केवल सारांश भेज रहा हूँ –

'एक सुंदर विवाहयोग्या लड़की को देखने कई लोग आए हैं। वह बार बार आईने में देखकर अपनी सज्जा ठीक करती है। बाहर दीवानखाने में लोग राह देखते बैठे हैं, यह सूचना देने के लिए उसका भाई आता है, ऐसे समय यदि परिहास न करे तो वह भाई कैसा ?

'माँ, कुछ बचा तो नहीं ?' वह लड़की माँ से पूछती है।

भाई एकदम कहता है 'एक रह गया।'

'क्या?' उसने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

'यह पुतली', ऐसा कहकर वह एक लकड़ी की गुड़िया उसके साड़ी के आँचल में डालता है।

'हिश्श ! ऐसा क्या करते हो भैया ?' कहकर लड़की गुस्से में पुतली फेंक देती है।

'भाई शरारत भरा जवाब देता है– 'तुम्हें तो अब उधर उनकी दो पुतलियाँ मिलेंगी। तब तू क्यों करेगी इस लकड़ी की पुतली की परवाह ?'

● ● ●

उसके विवाह के बाद पाँच बरस बीत जाते हैं। परन्तु उसे बाल बच्चा नहीं होता। रात को पड़ोसी के घर का बच्चा रोने लगता है तो उसकी नींद टूट जाती है। और अपनी निपुत्रिकता पर उद्विग्न करवटें बदलती रहती है। शाला छूटते समय वह भूखी आँखों से दरवाज़े में खड़ी रहती है। रास्ते में जाने वाले छोटे बालक देखकर उसके हृदय में अजीब भावना जगती है। शाम को पक्षी घोंसलों की ओर जाने लगते हैं कि वे भी हमसे अधिक सुखी हैं ऐसा उसके मन में उठता। पति का प्रेम, उसकी अमीरी किसी भाँति उसका मन शांत न कर सका।

● ● ●

अंतमें ईश्वर उसकी फरियाद सुनता है और उसे एक सुंदर लड़की होती है। लड़की को खिलाने में ही उसका सब समय बीत जाता है। वह दूर से कैसे दिखाई देती है, पास से कैसी दिखाई देती है, हाथ पैर कैसे नचाती है, मुँह कैसे फुलाती है, माँ के हृदय को इन सब बातों का बड़ा आनंद लगता है। यह सब देखकर पति परिहास से पूछता है—'एक अधिक है या दो ?'

'हिश्श, मैं क्या मूर्ख हूँ ?'

'ना, ना, आप बड़ी विदुषी हैं, इसी से तो पूछता हूँ।'

वह हँसकर जवाब देती है 'दो अधिक हैं।'

'सचमुच ?'

'बिल्कुल सच।'

'ग़लत है। एक ही अधिक है।'

'वह ?'

'मेरी आँखों की दो पुतलियाँ तुम्हें कितनी अच्छी लगती थीं पहले; परन्तु जब से यह नई पुतली हमारे घर में आई है–'

'हिश्श! तुम कुछ तो भी कहते हो। और एक नई पुतली की क़ीमत पुरानी दो पुतलियों से अधिक हो जाय तो उसमें क्या अचरज है?'

'वाह, पुराना सो सोना।'

'बिल्कुल नहीं। यह नई पुतली सोने जैसी नहीं है क्या? मेरी गुड़िया–भली अच्छी गुड़िया—'

● ● ●

वह लड़की पाँच बरस की हुई। एक बार माँ बीमार पड़ी। माँ को लगा लड़की मेरे पास बैठे। लड़की को तो खेलने जाने की एकदम स्फूर्ति आती है। बुखार से पीड़ित माँ की इच्छा थी कि लड़की उसके पास आकर बैठे। परन्तु लड़की कुछ भी नहीं सुनती।

स्मशान में वैराग्य सूझता है, उसी प्रकार से बीमार आदमी को भी न जाने कैसी कैसी कल्पनाएँ सूझती हैं। दुनिया में अपना कोई नहीं है ऐसा उस माँ को लगता है। सप्राण पुतली खेलने गई। पति की आँखों में की पुतलियाँ— वे कभी की पुरानी हो चुकी हैं। उसे एकदम याद आती है। वधु परीक्षा के दिन मैंने फेंक दी थी वह पुतली ससुराल आते हुए भैया ने ट्रंक में जानबूझ कर रख दी थी।

वह लकड़ी की गुड़िया खोजकर पास में लेते ही उसे समाधान मिला। इतने में लड़की पानी पीने के लिए घर में आई। लड़की माँ के कमरे में झाँककर देखती है। गुड़िया देखते ही वह चिल्लाती है— 'माँ, माँ, मुझे चाहिए वह गुड़िया।'

'लकड़ी की गुड़िया का सुख भी मेरे भाग्य में नहीं है।' माँ के मन में विचार आया। गुड़िया लड़की को देकर वह आँखें मूँद लेती है।

उसे लगता है — लड़की गुड़िया लेकर खेलने जायगी। परंतु गुड़िया लेते समय माँ का हाथ कितना गर्म है यह लड़की जान जाती है। लड़की वहीं ठिठकी खड़ी रह जाती है। माँ के गर्म कपोलों पर अपने नन्हें ओठ रखकर कहती है 'माँ, तुझे कितना ज्वर है। अब मैं खेलने नहीं जाऊँगी।'

'दादा, हमारे यहाँ के लेखक कभी ऐसी कहानियाँ लिखते हैं? उनके तो वही बंबई पूना के बंगले, चाय के प्याले, अमीरों के मेले, प्रणय के झमेले! सब कुछ साधारण जीवन से दूर का। महाराष्ट्रीय बुद्धिवान हैं ऐसा कहने का सर्व साधारण प्रवाद है; परन्तु यहाँ बंगाल में आकर यहाँ की कला, साहित्य, विद्वत्ता देखने पर लगता है हम खोखले बाँसों का जयस्तंभ खड़े कर के आत्मवंचना कर ले रहे हैं। बुद्धि के क्षेत्र में कहाँ हैं हम आज? तिलक के साथ हमारी राजनीति गई। नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने वाले लेखक हम निर्माण न कर सके। बोस-रॉय जैसे संशोधक? हमारे संशोधन का बैल अभी भी शिवाजी १६२७ में जन्मा या १६३० में, इसी चक्कर में घूम रहा है। ब्रम्हा जी का महाराष्ट्र छाप माल आजकल इतना बुरा क्यों निकलने लगा है?

'मेरी चिट्ठी क्या है? हनुमान जी की पूँछ है। अब उसे समेट ही लेता हूँ। उल्का बहिन से याद रखकर दो बातें कहिए। एक, लकड़ी की गुड़िया ससुराल में ले जाना न भूलना—और दूसरी, यदि यहाँ मेंढक और बच्चे यह संवाद किया तो मुझे साथ देने के लिए यहाँ आओगी क्या? ना! अब तो वह बड़ी हो गई है। अब क्या बनेगी वह मेंढक?'

१४

वसंत से चंद्रकांत पूना में मिला था। परन्तु वसंत ने दादा को इस बारे में एक अक्षर भी नहीं लिखा था। बी. ए. की परीक्षा पूरी कर के वसंत हमारे यहाँ रहने आया। तब सहज याद आई हो इस तरह से दादा ने पूछा—'अरे हाँ, वह चंद्रकान्त तुझे कभी मिला था?'

'पूना गया था मैं बीच में; तब एक बार दिखाई दिया था।'

'क्या कर रहा था वह वहाँ ?'

'सस्ती देशभक्ती। चार आने की खद्दर की टोपी सिर पर पहन ली कि अन्दर का सब खोखला पन छिप जाता है न!'

दादा के चेहरे पर से उन्हें वसन्त का यह वाक्य कोई बहुत अच्छा नहीं लगा ऐसा जान पड़ रहा था। परन्तु धरती के पेट में कितनी भी गड़बड़ हो रही हो, तो भी उसके ऊपर के आदमियों को वह धक्का हमेशा लगता ही है ऐसा नहीं है। वे शान्ति पूर्वक बोले 'शान्ति-निकेतन में गया है वह आजकल! अच्छा वातावरण है वहाँ। रवींद्र जैसे गुरुदेव–'

'गुरु की एक विद्या वह वापिस लेकर आएगा। अच्छी लम्बी दाढ़ी बढ़ाकर आएगा। यों बाबा बनकर अच्छा पेशा चल सकेगा हमारे कोंकन में। दानोली में एक साटम बाबा हैं ही, यह उन्हीं के भैया लाटम बाबा होंगे।'

मैंने आँखों से इशारा न किया होता तो वसंत का यह पुराण और भी लंबा चलते रहता। परन्तु चंद्रकान्त की निंदा से भी अधिक वसंत ने रवींद्रनाथ का अनजाने में किया हुआ उपहास मुझे अधिक तीव्र जान पड़ा। जिनके शब्द शब्द में सौंदर्य थिरकता है, ऐसे कवींद्र की तुलना किसी दाढ़ी धारी बाबा से की जाय! मैं क्रुद्ध हुई हूँ यह दादा के भी ध्यान में शायद आ गया! उन्होंने वसंत से कहा—'रवींद्र के बारे में कुछ उलटा सीधा न बोलना। हमारी उल्का का वह इस समय का देवता है।'

'देवता है, इस में कोई सन्देह नहीं। कोई भी पृष्ठ खोलिए उनकी किसी भी किताब का! मानों फूलों की वर्षा हो चुकी हो ऐसा जान पड़ता है।'

'फूलों से अधिक सुन्दर इस दुनिया में क्या है?' वसंत को मैं जीतूँगी इस निश्चय से मैंने पूछा।

'फल!' एक शब्द बोल कर वसंत चुप रहा। उन शब्दों में ऐसा क्या

था मैं नहीं जानती ! परन्तु भूकंप के आघात की तरह मुझे वह जान पड़ा यह सच है ।

विवाद आगे न बढ़े इस विचार से दादा ने वसंत को चंद्रकान्त का शांति-निकेतन से आया हुआ पत्र पढ़ने को दिया । उसका पढ़ना समाप्त होने-पर उन्होंने पूछा—' कैसी है यह लकड़ी की गुड़िया की कहानी ? '

' ये बंगाली लोग निरे भावुक हैं । भंग पिए जैसे लिखते हैं । बैठे बैठे एक बैठक में मैं भी लिख सकता हूँ ऐसी कहानी । '

मुझे वह कहानी मन से अच्छी लगी थी । इसलिए मैंने कहा ' लिखकर देखो । एक बार आपके लिखने के पद–चिन्ह तो देखें ? '

' हूँ ! उसमें क्या है ? लो ये रबर के बूट– ' वसंत ने कहा ।

मैं गुस्से से वहाँ से उठ गई ।

● ● ●

इस बातचीत का शूल कई दिनों तक मेरे मन में गड़ता रहा । परन्तु वसंत दूसरी श्रेणी में बी. ए. पास हुआ यह तार आते ही घर में जो आनंद की तरंग उठी, उसमें वह कहीं के कहीं बह गया । वसंत और बुआ हमारे यहाँ चार दिन रहने के लिए आए । माँ ने बड़ी भारी दावत दी । वसंत ने कहा — ' मामी, यदि इसी परीक्षा में सब पकवान पूरे हो गए तो अगली परीक्षा पूरी होने पर क्या भूखे ही रहेंगे ? '

मेरी शरारती बुद्धि किसी तरह चुप न रह सकी । ' बहुतसे वकीलों को यही करना पड़ता है आजकल । ' मैं कह गई ।

' बड़ी अच्छी है तू वकीलिन । पति की वकालत करनी चाहिए कि उसे हराया जाय ? ' माँ ने हँसते हँसते कहा ।

' मामी, ये हैं आजकल की लड़कियाँ । पति देवता होता है, ऐसा कहा जाय, तो ये पहले उसकी ' पाद्यपूजा ' करने जायेंगी । '

दादा को सहज हो इस विचार से रविवार को भोजन की योजना रखी गई थी । आते समय एक छोटा कैमेरा भी अपने साथ वसंत लाया था ।

वह प्रतिदिन सामने की टेकरी पर जाकर अलग अलग दृश्यों के फोटो निकाला करता था। रविवार को भोजन होने पर त्र्यम्बेश्वर के देवालय से डेढ़ मील पर जो किला था वहाँ जाने का निश्चय भी उन्होंने किया था।

उसी किले में कहीं एक पुराना शिला-लेख था। उसकी जानकारी अण्णा-साहब ने दादा से पूछी थी। माँ का विवाह हुआ तब यह अण्णासाहब बम्बई के विधवाश्रम के व्यवस्थापक थे। बाद में उन्हें इतिहास संशोधन का शौक पैदा हुआ! दादा का और उनका पत्रव्यवहार बिल्कुल नहीं था। परन्तु उन्होंने इस बार दादा को विशेषरूप से पत्र लिखा था। काम में एक और काम हो जायगा इसलिए दादा ने भी वसंत की योजना को संमति दी थी।

पर कहते हैं न? योजना और खेत एकसे होते हैं! फ़सल जब हाथ में आ जाय तब कह सकते हैं! शनीचर रात को माँ को बुखार आया। विवाह पूर्व के भोजन में अपशकुन हुआ ' ऐसा कुछ दादा के पास बुदबुदाई भी। दादा ने दूसरे दिन सबेरे रसोई बनाने वाली एक स्त्री को बुलाया और सब कुछ आगे व्यवस्थित हो गया। उसी रसोई बनाने वाली को सब कुछ बताते समझाते हुए माँ उससे बोल रही थी। मैं सहज रसोई घर में चली गई तो सुनाई पड़ा —

'तो यहीं रहती हैं आप?'

'हाँ, उस इंदु की माँ के घर पर दोपहर की रसोई बनाती हूँ। करूँ क्या। वह पागल कहीं मास्टर हो जाता तो। पर इस कलियुग में कोई किसी का नहीं।'

'बंगाल में गया है वह—'

'मसान में जाय न मुआ—' बाई साग काट रही थी। परन्तु उनके चेहरे से ऐसा जान पड़ता था मानो वह उस 'मुए' को ही काट रही हो।

'वैसे स्वभाव से बुरा नहीं है वह लड़का। पहले हमारे घर आया करता था वह!'

'वे लड़के सदा पराए होते हैं! नौ महीने मैंने उसे पेट में पाला, पर अब तो वह एक सतर चिठ्ठी भी लिखकर नहीं भेजता!'

अच्छा, तो यह रसोई बनाने वाली चंद्रकान्त की माँ है। माँ दूसरे के घर जाकर रसोई बनाकर पेट पाले, और वह साहबज़ादे तुलसी से शान्ति-निकेतन तक देशसेवा करते हुए भटकें। वाह! ऐसे इस आवारा लड़के की एक समय मेरी भी बड़ी मित्रता थी। मुझे अपने आप पर क्रोध हो आया। चंद्रकान्त कहीं आसपास में होता तो मैं उसका हाथ पकड़कर रसोई घर में ले आती और उसे कहती—'तेरी वह लकड़ी की गुड़िया रहने दे एक तरफ। इस हाड़मांस की माँ की ओर देख!'

इतने में जिस चाकू से वह साग काट रही थी, वह बंद करते हुए वह स्त्री बोली—'कीर्तन में कहते हैं वह झूट नहीं है—'फूटे भाग, हाथ में भीख का पात्र!' नहीं तो बुआ को देखो। अच्छा बी. ए. पास लड़का है। कल वकील होगा, उसे बड़े घर की बेटियाँ ब्याह के लिए—' वसन्त की उस स्तुति से मुझे गुदगुदी सी हुई। मैं झट से बाहर आई। आज लोग फलाने की माँ कहकर बुआ को भाग्यवान कहते हैं। माँ से भी अधिक, स्त्री का पति के भाग्य से निकट का सम्बंध नहीं है क्या? ज्वार की तरंगों में कोई नाव किनारे आ लगे, उसी प्रकार के आनन्द से मैं वसन्त के आगे जा खड़ी हुई। वह कैमेरा ठीक कर रहा था। उसने गर्दन उठाकर पूछा 'क्या चाहिए?'

'काम के बिना क्या कोई मुँह ही नहीं दिखाए क्या?'

'ज़रूर दिखाए। परन्तु जब देखने लगें तो उसे छिपाएँ नहीं।' उसने झट से कैमेरा एक ओर रखा और ढीठ होकर मेरी ओर ताकने लगा। क्षण भर के लिए आँखें चार हुईं। दूसरे ही क्षण मेरी गर्दन नीचे झुकी। मानो हृदय में कोई उद्वेलन हो रहा था, यही झुकी आँखें झाँक कर देख रही थीं।

'प्रसंग पूछने से पहले ही बंद हो गया!' कहकर वह खिलखिलाकर हँसने लगा।

कुछ बोलने का मेरा मन हुआ था। परन्तु मुझे शब्द ही नहीं सूझ रहे थे। हृदय की धड़कन समुद्र की गंभीर ध्वनि की भाँति जान पड़ रही थी। मात्र वहीं से शांत शीतल वायु लहरी भी बह रही थी।

वसंत मेरी ओर भी सकौतुक देखकर बोला—'क्या अच्छी खड़ी हो! कैमेरा तैयार होता तो फोटो ही ले लेता मैं।'

मैं और भी लज्जित हो गई। मेरे हाथ की कुछ क्रीड़ा शुरू हुई। मैं बालों में से एक पिन (आँकड़ा) निकालकर देखने लगी। वसंत बोला—'वह आँकड़ा निकालना जानती हो!'

मुझे उसके प्रश्न का अर्थ ही नहीं समझ में आया। वह हँस कर बोला—'कुंडली मारे बैठे नाग के सिर पर का आँकड़ा है न यह?'

मैं हँसी। पर हारने वाली मैं नहीं थी। अतः बोली—'वह आँकड़ा दस का होता है!'

'और यह है ग्यारह का। नागिन की अपेक्षा रमणी में ही अधिक विष होता है ऐसा कह सकते हैं। बिल्कुल दूर से होता है उसका असर।'

इतना कहकर उसने ज़हर से उन्मत्त व्यक्ति का अभिनय आरंभ किया। मुझे और हँसी आ गई। श्लेष पर श्लेष; करने की इच्छा से मैं बोल गई 'स्त्रियों के सिर पर चाहे नाग रहते हो। पुरुष के सिर पर फुरसे (कोंकन में पाया जाने वाला एक विषैला साँप) होते हैं।'

● ● ●

रसोई बनाने वाली स्त्री का और बुआ का बड़ा प्रेम हो गया। उनकी सावंत वाड़ी की कुछ पुरानी पहचान भी थी। दोनों के एक ही गुरु का उपदेश लेने की बात उसमें और बढ़ गई। फिर क्या कहना? हम क़िले की तरफ जाने निकले तब ये दोनों गुरु—भगिनियाँ देवालय की तरफ गईं। इंदु की

माँ की ओर भी चंद्रकान्त की माँ को लेकर बुआ जाने वाली थी ऐसा कहते हैं। बुआ कुछ कम लब्ध-प्रतिष्ठित नहीं थी। परन्तु दादा का शहर में कहीं भी आना जाना नहीं था। उसमें फिर उनके विधवा विवाह की और जोड़। इस कारण से आज तक शहर में बुआ की बहुत सी पहिचान न हो पाई थी। परन्तु उस दिन उन्हें अनायास एक मध्यस्थ मिल गई।

क़िले की ओर जाने के लिए पगडंडी धान के खेत में से होकर थी। मृग की वर्षा अभी अभी हुई थी। इसलिए सब ओर हरा हरा नज़र आ रहा था। दूर दिखनेवाले पर्वतों की धुंधली श्रेणियाँ, इस ओर के नारियलों की सुंदर श्रेणियाँ। मानो कोई जगा हुआ छोटा बच्चा पालने से बाहर झाँक कर देख रहा हो ऐसा उन वृक्षों में से कोई घर दिखाई देता था, कितना रम्य था वह। जाते जाते राह में हमें धीवर बस्ती दिखाई दी। कितनी गन्दगी। वे दड़बों की तरह छोटे छोटे घर और वे नंगे बुच्चे बच्चे देखकर मानो प्रकृति के उस रमणीय चित्र पर किसीने यह एक काला दाग़ लगाया हो, ऐसा मुझे लगा। वसंत ने कहा भी—'हवाई जहाज़ इसीलिए चाहिए! ऐसी बस्तियों में से जाना न पड़े!'

क़िले के प्रवेश-द्वार पर ही वह शिला-लेख था। दादा वहीं बैठ गए। फोटो के लिए वसंत और मैं अन्दर गए। सूखी बावली, टूटे महल, घुटनों तक जहाँ घास उग आया था ऐसा आँगन — इसी तरह से था उस पुराने क़िले का वैभव! उसमें देखने लायक है क्या? समय कटना चाहिए इसलिए मैंने वसंत से कहा—'ऐसे पुराने क़िलों में गुप्त धन मिलता है ऐसा सुना है।'

मेरी ओर एक कटाक्ष फेंककर वह बोला — 'प्रकट हो जाने पर उस धन को गुप्त कैसे कह सकते हैं?

कुछ ऐसा ही मज़ेदार जवाब देने की बात मेरे मन में उठी थी, परन्तु मारे लाज के मैं केवल 'हिश्श' कहकर रह गई। और कोई शब्द मेरे मुँह से न निकल पाया।

घूमते घूमते हम एक बुर्ज के के पास आए। काँटे और चिपटने वाली घास को बचाते बचाते हम ऊब गए ही थे कि क़िले पर आने के श्रम की सार्थकता हुई। समुद्र पर की शीतल हवा के झोंकों की जैसे वर्षा हो रही थी वहाँ। बुर्ज पर से दिखाई देने वाला दृश्य भी कितना भव्य और रम्य था। नीला आकाश और उसे जाकर मिला हुआ नीला समुद्र! मानों दोनो जुड़वाँ भाई ही हों! समुद्र लहरें किनारे पर गिरकर लौटते हुए जो आवाज़ हो रही थी, वह भी कितनी मधुर थी! आँख मिचौनी के खेल में छिपने जाने वाली नन्ही बालिका की मंजुल खिलखिलाहट ही हो मानों वह। किनारे से थोड़े दूर पर बीच में बालू का ऊँचा टीला था। उस पर कई सफ़ेद पक्षी इधर से उधर नाच रहे थे। उस पार कुछ धीवर अपना गाना गाते हुए जाला खींच रहे थे। मानो गाने के स्वर सुनते ही वहाँ की एक ही एक नौका पानी में डोल रही थी। आकाश में बीच बीच में बादल जमते। पानी का रंग सहसा बदलने जाता। बादल चले जाने पर पानी फिर चमकने लगता। कितनी देर मैं अतृप्त आँखों से यह देखती रही।

'फोटो लेने हैं न तुम्हें! देखो कहाँ का दृश्य अच्छा लगता है।' मैंने वसंत से कहा।

उसकी आँखों में शरारत चमक रही थी। उसने कहा—'बहुत सुंदर दृश्य एक मेरे पास ही है।'

'यानी?'

'तुम्हारा फोटो लेने वाला हूँ मैं अब!'

'फिर क़िले पर क्यों आना चाहिए था उसके लिए?'

'घर पर ऐसी सुन्दर तैयारी फोटो की कैसे होती? उल्का, लहरों की और हवा की जो क्रीड़ा वृत्ति, तुम्हारे चेहरे पर दिखाई दे रही है, वह घर पर कहाँ दिखाई देती? और ये उड़ने वाले कुन्तल, ये कपाल पर मोती के दाने – यह आँचल रूपी ध्वजा – कवि नहीं हूँ मैं, नहीं तो

अब कहीं मेरा ध्यान अपनी वेश भूषा की ओर गया। परन्तु वसंत ने मुझे अपने बाल न सँवारने दिए।

'फोटो छपाते समय हम उसका नाम वनदेवी रखेंगे।' कैमेरा प्रस्तुत करते हुए उसने कहा।

'या इस क़िले की भवानी देवी?'

'ज़रा इधर मुँह करो। वह खाड़ी कैसे टेढ़ी मेढ़ी होती हुई एकदम समुद्र से जा मिली है? उधर देखो—यानी सुन्दर पोज़ मिलेगी।'

मैं उस संगम की ओर देखने लगी। देखते देखते एकदम मेरे मन में आया, बेचारी खाड़ी समुद्र में मिलती है। समुद्र रंग में आता है कि खाड़ी को ज्वार आता है। वह गुस्से से दूर गया कि—खाड़ी निरा रेगिस्तान है! खाड़ी का सब जीवन समुद्र पर अवलम्बित है। स्त्री का भी ऐसा ही नहीं है क्या?

चाहे जैसे विचार मन में आने लगे। मैंने गर्दन हिलाते हुए वसंत से कहा'—अच्छे फोटोग्राफर बनोगे तुम। पालने में की लड़की का फोटो लेने के लिए यदि तुम्हें भेजा तो आख़िर काँच में नानी का चित्र आएगा!'

'अरे पर—'

'परंतु क्या?'

मैं कुछ आगे बोलने से पहले ही वह मेरे पास आया और मेरा मुँह दोनों हथेलियों में धर कर वह हिलाकर बोला 'तू बैठी है कहाँ ठीक से?'

सितार के कंपायमान तारों में से निकलनेवाले मधुर नाद के समान एक मीठी सिहरन मेरे सारे शरीर में से दौड़ गई।

परन्तु मैंने उत्तर दिया—'फोटो निकालना न जाने, कैमेरा ही बुरा है।'

'कैमेरा नहीं है बुरा मेरा।'

'फिर क्या? मैं बुरी हूँ! यही है न!' झूठे गुस्से से गाल फुलाकर मैंने पूछा।

'गुलाब फूलने पर क्या होता है जानती हो?'

'उसके काँटे भी बड़े हो जाते हैं।'

'नहीं जी। उसके फूल तोड़ लेते हैं।'

और उसने झट से मेरे गाल चुटकी से मसल दिए। उसका प्रतिकार मैंने नहीं किया—मैं कर ही नहीं सकी। उसने वैसा कुछ न किया होता, तो शायद उस समय उस पर क्रोध आता। उसके उस स्पर्श में निसःन्देह जादू था। सामने का टूटा क़िला, पास का अथाह समुद्र, ऊपर का निस्सीम आकाश, कुछकुछ भी मुझे दिखाई नहीं दे रहा था। नींद आँखों पर जब लहराने लगती है तब जो मीठी मादकता छा जाती है, उसी का मानो अनुभव मुझे आ रहा था। बचपन में नींद आने लगती है तब माँ की थपकियों से जैसे आनंद होता है, उस समय भी मुझे ऐसा ही लगा। वसंत के मधुर स्पर्श का सुख अनुभव करते हुए प्रणय-निद्रा में मस्त हो जाऊँ इस इच्छा के सिवा, मुझे किसके हाथ आगे हुए यह मुझे अभी नहीं याद आता। शायद दोनों के हाथ एक साथ ही आगे बढ़े होंगे। दो नदियाँ बहती आती हुई एक दूसरे को आ मिलती हैं, इसीलिए उनका संगम होता है न?

वसंत के हाथ में मैंने अपने हाथ रहने दिए। मुझ में वे वापिस लेने की शक्ति ही नहीं थी। वह ज़रा झुका भी, इतने में 'ताई, ताई' कहते हुए चिल्लाता चिल्लाता एक धीवर का काला साँवला लड़का भागता हुआ बुर्ज पर आया। वसंत एकदम पीछे हट गया। मैं भी कितनी चौंकी। ज़रासे में बच गई। नहीं तो उस बुर्ज के बहुत संकुचित किनारे से मैं नीचे ही गिर पड़ती।

वह लड़का ताज़े तोड़े नारियल की ढाब पीने के लिए हमें बुलाने आया था। दादा के स्कूल में वह इसी वर्ष आया था।

घर लौटते हुए आकाश के नीले रंग में मिल जाने वाले गुलाबी मेघ मैं सिर्फ़ आँखों से ही नहीं देख रही थी; हृदय से भी अनुभव कर रही थी। सुरंगी संध्या के पीछे पीछे काली काली रात आती है इस बात का मुझे उस समय भान ही नहीं था।

१५

मनुष्य स्वभावतः दुष्ट नहीं है; परन्तु वह बहुत अधिक स्वार्थी है। अन्न के अतिरेक से विष हो जाता है। स्वार्थ भी सीमा लाँघकर अति हो जाने से उसमें और दुष्टता में विशेष अंतर नहीं रहता।

उस दिन मेरा स्वार्थ बिल्कुल शिखर पर पहुँच गया था। मैं बुखार से पीड़ित माँ के पास घड़ी भर भी नहीं बैठी, और न ही दादा से उस शिला लेख के बारे में एक शब्द से भी पूछा। वसंत – बस, एक वसंत के सिवा मुझे कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था। परन्तु उससे बोलने का साहस मैं नहीं बटोर पा रही थी। और उससे बोलना चाहिए था भी क्यों? आँखों का बेतार सन्देश एक सा चल रहा था। रात को बड़ी देर तक मुझे नींद नहीं आई। पढ़ने के लिए मैं अपनी प्रिय पुस्तक खोजने लगी। 'उत्तररान' निकाला पर वह ज्यों का त्यों रख दिया। पति द्वारा परित्यक्ता पत्नी की कथा मुझे उस समय क्या अच्छी लगती? ' मृच्छकटिक ' उठाया; परन्तु वह खोलने का साहस न हुआ। धूता और वसंतसेना! सौतें। वसंतसेना को देखकर धूता को कैसा लगा होगा?

मैं एकदम मेरे प्रिय ग्रंथकार रवींद्रनाथ के कविता-संग्रहों की ओर मुड़ी। गीतांजलि? ना! हे ईश्वर, हे दयाघन, हे जगन्नाथ, अब तू मुझे कब, कैसे दर्शन देगा यह चीख पुकार मुझे अब मचाने की क्या ज़रूरत थी? मेरा परमात्मा मुझे मिल चुका था। मैंने Gardner खोला और भूखे की तरह अपने प्रिय गीत पढ़ डाले। प्रत्येक गीत में आनंद के नए नए फव्वारे उड़ रहे थे। उस रात को मैंने पढ़ी हुई वे पंक्तियाँ–

I try to fill my arms with her loveliness, to plunder
her sweet smile with kisses,

To drink her dark glances with my eyes.

Ah ! but where is it ? Who can strain the blue from the sky ?

इस उन्मादक आनंद के प्रवाह में बहते हुए और सब बातों का भान मुझे रहता भी कैसे ? दूसरे या तीसरे दिन, माँ बीमार थी इसलिए उसे मिलने इंदु बंबई से आई। हमारे घर में भी वह सहज एक अपनी 'पग धूरि छाँड गयी।' उसकी मेरी प्रेम की बातें थोड़ी देर हुई होंगी। आश्चर्य यह कि उस आत्मीयता पूर्ण बात चीत में कहीं भी हमारे आत्म निबंधकारों जैसे पुस्तकों के नाम नहीं थे।

उसने मुझे सम्भ्रम पूछा—'सुना है तेरा विवाह होने वाला है जल्दी ही।'

'सब की ही शादियाँ होनी हैं दुनिया में !'

'मैं नहीं करूँगी ब्याह !'

'अमीर माँ बाप की इकलौती बेटी तू ! और—'

'इकलौती बेटी ने शादी करनी ही चाहिए ऐसा कुछ क़ायदा नहीं है !'

'अंग्रेज़ सरकार का न हो। परन्तु प्रकृति का ?'

'यह देखो तारा, देहात में रहकर तू बहुत पिछड़ गई है। मैं तो अच्छी बी. ए. करूँगी और मिल मज़दूरों की स्थिति सुधारने का यत्न करूँगी। अगले साल कॉलेज में जाऊँगी, तभी से थोड़ी समाज सेवा शुरू कर दूँगी।'

इंदु अपनी शाला का वर्णन बताने लगी। कहीं की मिशनरी शाला थी। वहाँ की पारसी और गुजराती लड़कियों की रंगबिरंगी वेशभूषा और केश-भूषा 'कल करेंगे पढ़ाई' कहकर अध्यापकों की खुले आम पूजा करने की ढिठाई। शाला जुटते और छूटते समय शाला के दरवाज़े में होने वाली मोटर गाड़ियों की भीड़, नृत्यगान के कार्यक्रम—वर्णन करते करते इंदु एकदम रँग गई।

'शाला दूर है क्या तेरी, घर से ?'

'दूर नहीं है वैसे। परन्तु मोटर से जाती हूँ मैं हमेशा ! अरी, जिन लोगों में रहना है, उन्हीं जैसा बनना चाहिए हमें।'

मैंने उसके मुँह की ओर एकटक देखकर पूछा 'बम्बई की हवा तुम्हें खासी अनुकूल जान पड़ी है !'

'यह कैसे जाना ?'

'तुम्हारे चेहरे में कुछ नया नवापन जान पड़ता है !'

'बिल्कुल गँवार है री तू ! ये बाल नहीं देखे मेरे ?'

सर्पिल ढंग की विशेष केश रचना से उसका चेहरा इतना आकर्षक जान पड़ने लगा था।

'बंबई की शाला में केश रचना की भी शिक्षा है क्या ?' मैंने हँसते हुए पूछा।

'सारी दुनिया समा गई है बंबई में।'

'बंबई यानी दूसरा महाभारत है ऐसा कहो न ! महाभारत में सारी दुनिया है ऐसा कहते हैं।'

'बंबई का वर्णन करना शुरू करें तो दूसरा महाभारत ही हो जायगा !'

उसे समय नहीं था। अतः मुझे संक्षिप्त महाभारत ही सुनने को मिला। परन्तु उसमें का प्रत्येक पर्व पद पद पर मुझे आश्चर्यचकित कर डाल रहा था ! केशभूषा के लिए स्त्रियाँ उस्तरे का उपयोग कैसे करती हैं; चौपाटी पर घूमने जाने पर सब लोग एकटक स्त्रियों की ओर कैसे निहारते रहते हैं; ईरानी की दूकान में सुंदर मांसयुक्त पदार्थ कौनसे हैं; साड़ियों के मामले में बंबई में इस समय कौनसा फैशन प्रचलित है; हाथ में की चूड़ियाँ कितनी नाजुक होनी चाहिए, काँच के कंकण हाथ में पहिनने वाली लड़की पर 'पेशवा-शाही के समय सोई और अब जाग उठी !' इन शब्दों से उपेक्षा से हँसा जाता है; विवाह – पति – बच्चे इत्यादि झमेलों में फँसने की अपेक्षा अविवाहित रहकर समाज सेवा करना कैसे अधिक श्रेयस्कर है, इत्यादि बातें एक के बाद एक जब मेरे कानों पर आने लगीं—और वे भी क्लास में मुझसे बहुत नीचे रहने वाली इंदु के मुँह से— तो मैं एकदम घबड़ा गई।

इंदु चली गई। परन्तु बंबई की उस काल्पनिक सृष्टि में ही मैं विहार कर रही थी। मोटरें, बंगले, नृत्य-गायन, नहाना-सजना, वेश-भूषा, केश-रचना — सचमुच बंबई कितनी सुंदर होगी! (मज़दूर अशिक्षित हैं इसलिए उनकी हालत खराब है बंबई में) परन्तु सुशिक्षित व्यक्ति केवल सुख सागर में वहाँ तैरते होंगे। इंदु से मुझे ईर्ष्या होने लगी। पढ़ाई में एक बार भी वह मुझ से बराबरी न कर सकी। परन्तु वही कल बी. ए. होगी। मज़दूरों के आगे लेक्चर झाड़ेगी। अख़बारों में उसका नाम चमकेगा — और हम? ना! वह बिल्कुल ठीक नहीं! बसंत से मैं कहूँगी — वह बंबई में ही वकालत शुरू करे।

मेरे सुख सपनों में मैं बिल्कुल मग्न थी। ऐसे समय अपने पीहर आई हुई निरा की पीठ पर के कोड़े के निशान मैं कैसे देख पाती? और कोई उन्हें बताता भी तो मैं अपने सुख स्वप्न से चौंककर जगती, इतनी मुझमें चेतना कहाँ थी? निरा और मैं बचपन की साथिनें थीं। परन्तु अब हममें सिवा कुछ शिष्टाचार की बातें कर लेने के, और स्नेह नहीं बचा था। वह शरीर से अच्छी मज़बूत थी। उसकी कांति भी नीबू की तरह गदराई हुई थी। परन्तु उसके रूप से मुझे क्या करना था? इसका वह भोंडा पति—उसका वह कहाँ का गन्दा सा गाँव, इनसे मेरा इस जन्म में भी सम्बन्ध नहीं आएगा। फिर उसका विचार क्यों किया जाय? ऐसा मन में सोचकर मैं निरा से अधिक बोलती नहीं थी। मेरी दुनिया स्वर्गतुल्य थी। निरा एकदम साधारण मृत्युलोक की स्त्री जो ठहरी!

मेरा नए फैशन का जम्पर देखकर उनमें से एक निरा ने डरते डरते माँगा!

'इतनी पूरे गाँव की वसूली करता है तेरा धनी और तुझे एक जम्पर नहीं देता?'

'यह देखो जम्पर' कहकर उसने अपनी पीठ खोल कर दिखाई। उस पर बेंत के निशान साफ दिखाई दे रहे थे!

' यह क्या है री ! '

' पति ने पहनाए हुए गहने हैं, ताराबाई ! '

' परन्तु ऐसा आखिर हुआ भी क्या ? '

' कहावत जो है, बीमार को घी, और गरीब को रूप ! '

निरा पर चाहे जो सन्देह कर के उसके पति ने उसे मारा पीटा होगा ! और अधिक पूछने की हिम्मत ही मुझे न हुई । बचपन में उसने मेरा जम्पर कैसे बिल्कुल पेट से पकड़ रखा था, उसकी याद आई और मुझे रोना आ गया । मैंने दिया हुआ जम्पर लेकर जाते हुए निरा की लौटती आकृति को देखकर मैं सोच रही थी — कितनी सुखी हूँ मैं ! दादा-माँ-बसंत इन तीनों में मेरा त्रिभुवन समाया हुआ है ! निरा ! निरा से हमें क्या करना है । उसका घर कैसा हो । हमें क्या करना है इससे ? हमारा जीवन तो बंबई जैसे शहर में बीतेगा ! उसका गाँव कैसा होगा ! जिस गाँव जाना नहीं उसकी राह पूछने से क्या मतलब ? मेरी दुनिया अलग है, उसकी दुनिया अलग ! स्वर्ग की अप्सरा को मृत्युलोक से क्या मतलब ? स्वर्ग के देव कभी धरती पर आते हैं ? भवितव्यता गूँगी न होती तो उसने अवश्य उत्तर दिया होता—' अप्सराओं को शाप मिलता है और देवों को अवतार लेना पडता है । '

इसके बाद का डेढ़ बरस कितनी जल्दी बीत गया । मेरा बढ़ता हुआ पढ़ना देखकर दादा कहते — ' यह तो डिग्रीधारियों पर भी मात करेगी । '

माँ हल्के से हँस कर जवाब देती — ' वसंत से कहो, अब ज़रा सँभलकर रहो ! '

मीठी नींद के सुखद सपनों के वे दिन थे । वह माधुरी — मृगजल की आशा से भागने वाले हिरन को देखकर कवि के मन में करुणा पैदा होगी । परन्तु साधारण मनुष्य को उसकी वह चौदिशा छलाँगें देखकर आनंद ही होगा । ' बाल कवि ' ने ' आनंदी आनंद गड़े ' यह कविता मुझ जैसी कुमा-रिका की प्रणय-समाधि देखकर ही लिखी होगी ऐसा मैंने उन दिनों बड़े ज़ोर

से प्रतिपादित किया होता। वसंत की स्वतंत्र चिट्ठियाँ मेरे पास नहीं आ रही थीं; परन्तु दादा के पत्र में वह एक दो वाक्य ऐसे लिखता कि जिस कारण से मुझे कई मास तक गुदगुदी होती रहती। बटन दबाते ही बिजली का दीपक जैसे जलता है उसी प्रकार से उसके एक वाक्य से किले में की वह घटना मेरी आँखों के आगे स्पष्ट नाचने लगती। एक पत्र में उसने लिखा था—

'मेरी पढ़ाई आजकल जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं होती। एक व्यक्ति की मुझे बहुत याद आती है। ऐसे अध्ययन को खो कर यदि मैं परीक्षा में फेल हुआ तो मैं उस व्यक्ति पर क्षति पूर्ति का दावा ठोके बिना न रहूँगा। आखिर वकालत पढ़ रहा हूँ या मज़ाक है!'

दूसरी एक चिट्ठी में उसने लिखा था–' परसों हमारे विद्यार्थियों में बड़ा ज़ोरों का वाद विवाद हुआ। प्रेम प्रथम दर्शन से निर्मित होता है ऐसा सुना जाता है। वह कहाँ तक सच है? मुझसे जब पूछा गया तो मैंने कहा 'सच है। मेरी भावी पत्नी को उसके जन्म के बाद बारहवें दिन मैंने देखा था। तभी से मेरा उस पर प्रेम है ऐसा मैं कह सकता हूँ।'

ऐसी व्यक्तिगत चिट्ठियों के आगे शांति-निकेतन से आने वाले चंद्रकान्त के पत्रों की परवाह मैं कैसे करती? उसके पत्र को मैं सदा 'समाचार पत्र' कहती। राज-नीति, अर्थ-शास्त्र, समाज-सुधार सब की खिचड़ी उसमें रहती थी। कहीं पर समाचार पत्र के कोने में मृत्यु समाचार आता है उसी प्रकार उल्का बहिन का नामनिर्देश कहीं आया करता था। परंतु वसंत का पत्र मुझे किसी प्रिय मासिक के दीपावली अंक के समान जान पड़ता।

ऐसा होने पर भी, वसंत की एल.एल.बी. फाइनल परीक्षा के कुछ पहले चंद्रकान्त का जो पत्र दादा के पास आया था वह पढ़ते हुए मैं गदगद हो उठी।

'प्रिय दादा,

तुम्हें और उल्का बहन को मेरा यह अन्तिम पत्र है।'

इस प्रकार आरंभ करके वही करुण स्वर उसके सारे पत्र में परिव्याप्त था—

'शांति-निकेतन की शिक्षा से मुझे बहुत लाभ हुआ है यह मैं कभी अस्वीकार नहीं करूँगा। यहाँ की पढ़ाई कोई कोल्हू के बैल की तरह नहीं है। वही निश्चित विषय, एक सी परीक्षाएँ, रटाई घोटाई, इन पर यहाँ धिक्कार है। महाराष्ट्र के स्कूलों और कालिजों में (मैं कालिज में गया नहीं भी होऊँ फिर भी पूना में जब था तब कालिज के विद्यार्थियों का ज्ञान कितना होता है, मुझे पूर्ण अनुभव है) दिए जाने वाले शिक्षण को बौद्धिक कहते हैं। परन्तु वह सब बौद्धिक शिक्षा बुद्धिहीन होती है। चित्रकला और संगीत कला के हाथ में हाथ डालकर यहाँ अर्थ-शास्त्र और समाज-शास्त्र विहार करते हैं। ज्ञान की प्रत्येक शाखा का संकुचित प्रांतीय दृष्टि से यहाँ पोषण नहीं होता; विश्वबंधुता की व्यापक दृष्टि सर्वत्र दिखाई देती है। उधर वर्षानुवर्ष रहकर जो शिक्षा मुझे न मिलती वह यहाँ ज़रा से समय में मिल गई।

'मेरी बुद्धि का समाधान हुआ। परन्तु दादा, छोटे मुँह बड़ा कौर न होतो—परन्तु लिखता ही हूँ। रवींद्रनाथ जैसी वंदनीय विभूति के पास आकर भी मेरे हृदय की तिलमिलाहट शान्त नहीं हुई। और वह होती भी कैसे? शान्ति-निकेतन की पहाड़ी पर खड़े रहकर दोनों ओर देखने से आंतड़ियाँ जैसे टूटने लगती हैं। इस पहाड़ी पर सरस्वती है, बुद्धि है, संस्कृति है, कला है, वाङ्मय है, सब कुछ है। परन्तु पहाड़ कितना भी ऊँचा होने पर भी घाटियों में की भूखी आंतड़ियों को उसके गगनचुम्बी शिखर का क्या उपयोग? इस विद्या-मन्दिर से कुछ दूर जाने पर एक ओर पटसन के कारखाने और उसमें के मजूर दिखाई देते हैं। दूसरी ओर किसानों की बस्ती है। यहाँ के किसानों की औरतें किसी तरह केवल एक उत्तरीय सा

लपेटकर अपनी लज्जाका रक्षण करती हैं। द्रौपदी के लज्जारक्षण करने वाले श्रीकृष्ण के हम उत्सव मनाते हैं; कवि उन पर काव्य लिखते हैं; दार्शनिक उसे पूर्णावतार बताते हैं। एक द्रौपदी के लिए दौड़े जाने वाले उस भगवान को ये हजारों लाखों स्त्रियाँ नहीं दिखाई देती क्या? मुझे लगता कि कलि युग में भगवान ही अन्धा हो गया है।

सायंकाल होते ही मेरा हृदय कहता है—यह चित्र देख और वह चित्र देख। और ये दोनों चित्र देखकर मुझे रात भर नींद नहीं आती। प्राण तिलमिलाते हैं। क्या करूँ, क्या न करूँ ऐसी हालत हो जाती है। परन्तु इतने दिन तक पिंजरे में के बाघ की भाँति तिलमिलाने के सिवा मैं कुछ भी नहीं कर सका।

शाम को शांति-निकेतन में टेनिस के क्रीड़ांगण में खिलाड़ी नाचने लगते हैं। उधर मजूर किसानों की बस्ती में शराबी नाचते हैं। नृत्य गायन—वादन इत्यादि कलाओं की यहाँ बहार होती है; उधर भी यह सब कुछ होता है, परन्तु बीभत्स रूप में। 'सुधार की स्थितियाँ' ऐसे विषयों पर भर पेट सुसंस्कृत लोग इधर आक्रोश करते रहते हैं; उधर व्यसनी और अनाड़ी जीवों की स्त्रियाँ और बच्चे रोटी के टुकड़े के लिए प्राण जाने तक चिल्लाते हैं। शांति-निकेतन के प्रार्थना मंदिर में गुरुदेव प्रार्थना करने लगे कि क्षण भर शांति का युग अवतरित हुआ है ऐसा आभास होता है। परन्तु यह आख़िर निरा भास ही तो है। हमारी प्रार्थना सुननेवाले भगवान को हमारे पास से एक चीख की दूरी पर के उन दीनदुर्बलों की प्रार्थनाएँ क्यों नहीं सुनाई देतीं? वह पँहुचे भी कैसे? कलियुग में भगवान भी बहिरा हो गया है।

ये दो चित्र देखकर रोज़ रात को मैं सोचा करता हूँ। तारों की ओर ध्यान देने से लगता है तारे कितने सुंदर हैं, बिल्कुल हमारे

गुरुदेव की काव्यकल्पनाओं के समान ! परन्तु तारों के तेज का दुनिया को क्या उपयोग ? आकाश में जड़े हुए यह हीरे के टुकड़े—अमीरों के वैभव का प्रदर्शन है निरा ! परन्तु अमीरों का ठाठ देखकर गरीबों के पेट की आग कहीं बुझी है ?

शिक्षण, संस्कृति, कला, वाङ्मय-इन तारों के तेज से देश की करोड़ों वृक्षवल्लरियों की वृद्धि न होगी। उन्हें चाहिए सूर्यप्रकाश। इस प्रकाश के लिए मैंने कई रातें जगकर बिताई। अब कहीं मुझे अरुण दिखाई देने लगा है। मैं कल शान्ति-निकेतन छोड़कर जा रहा हूँ।

'कहाँ जाओगे—यह यदि पूछोगे तो मेरा उत्तर है—कल्पना के पीछे ! यह हाड़ माँस की कल्पना है ! एक शब्द में कहूँ तो क्रान्ति यही उसका आदर्श है। उसके कार्य में जा मिलने का मेरा इरादा है, फिर इस साहस का अंत चाहे जो हो'! उल्का बहन मेरी मदद को आएगी ? कल्पना के मित्र विजय को उल्का नाम बहुत पसंद आया ऐसा वह कह रही थी। इसीलिए पूछ रहा हूँ। हाँ, 'मेंढक और बच्चे' वाला गाना कल्पना को बहुत भला लगा। 'तुम्हारी उल्का बहन को एक बार मुझे देखना है' ऐसा उसने कहा।

उल्का बहन, मुझ पर गुस्सा मत होना। रवींद्र की कविता तुम्हें बहुत प्रिय है ऐसा दादा ने मुझे पहले लिखा था। उनकी कविता सुंदर है। परन्तु वह संध्या के समान है ! हमारे अभागे भारत को ऊषा चाहिए, संध्या नहीं। उल्का बहन, यह ऊषा पक्षियों केकल-रवके बिना आएगी कैसे ? मैं तो गातेगाते उड़ता जा रहा हूँ ! ऊषा जाग्रत होने से पहले ही मैं शिकारी का बाण लगकर ज़मीन पर गिर पड़ूँगा। गिर गया तो क्या हुआ। मैं गिरा तो ? उल्का बहन ऊषा को जगाने के लिए गाने लगेगी, यही है न ? मराठी शाला में वही

मेरे साथ मेंढक बनी थी। वही इंदु—अमीर और गर्वीली! खेल में भी उसे मेंढक बनना कुछ नीचा मान पड़ा। परन्तु मेरी उल्का वैसी नहीं है।

प्रिय दादा, कितना लिखने का मन होता है। परन्तु यह काल लिखने बोलने का नहीं; करने का है। मैं क्या करूँगा यह आपको मालूम होगा ही। मेरा मार्ग यदि आपको गलत जान पड़े तो भी मुझ पर क्रोध न कीजिए। इस नश्वर दुनिया से मैं चला भी जाऊँ तो भी आप और उल्का बहन मुझे न भूलेंगे। उल्का बहन, सच है न यह?'

चंद्रकान्त, किस मुहूर्त पर तू यह चिठी लिखने बैठा था रे?

१६

आज सोने की स्याही से यह पत्र मुद्रित करना चाहिए, ऐसा मुझे लगता है। उस समय भी यह पत्र मेरे हृदय को जाकर छुआ न हो सो बात नहीं; लेकिन अच्छी तस्वीर खींचने के लिए चित्रकार भी तो कुशल होना चाहिए न? मेरी उस समय चंद्रकान्त की ओर देखने की दृष्टि ही दूसरी थी। मैंने मन में कहा था कि—'शान्ति—निकेतन और रवींद्रनाथ केवल हीरे और माणिक हैं! भूख के समय उनका कुछ उपयोग नहीं' यह कहने वाला चंद्रकान्त कौनसे घी के दीए जलाएगा सो तो दिखाई ही दे रहा है।' जुगनूँ सूर्य से कहे कि तू मेरे आसपास घूम ऐसी ही यह कुछ बात जान पड़ती है। बड़ा मातृभूमि के नाम से चीख रहा है। वह गुलामी में है इसलिए उसे ठीक से नींद भी नहीं आती। और इधर माँ दूसरे के घर के टुकड़े तोड़ रही है, इसका क्या इलाज है? कहीं की कोई 'कल्पना' नाम की उच्छृंखल लड़की इसे मिल गई। और ये हज़रत उसी के पीछे

पागल हैं। बचपन में उसका मामा उसे धूमकेतु कहता था सो झूठ नहीं है। मेरा वसन्त ! वह ऐसा पुच्छलतारा नहीं है। वह तो सुन्दर चंद्र है !

चंद्र सुंदर है सचमुच; परन्तु वह चंचल नहीं है क्या ?

उस समय तो मुझे चंद्र चंचल होता है इस बात की चेतना नहीं रही। मानो प्रत्येक रात पूनम की ही होती है, ऐसा तब मुझे लगा। रवींद्र के वर्णन किए हुए दिव्य प्रेम के सागर में कल्पना की लहरियों पर मैं तैर रही थी।

परन्तु समुद्र में चट्टानें छिपी रहती हैं। चंद्र सुंदर होने पर भी, अमावास्या को वह मुँह नहीं दिखाता। मेरे जीवन की भी वह अशुभ अमावस की रात याद आई कि अब भी मेरे शरीर पर रोमांच हो आता है। शाम को बुआ सावंत वाड़ी से एकदम आईं। उनके चेहरे पर से ऐसा जान पड़ा मानो वसंत बीमार हो। बड़ी देर तक गूँगी की भाँति वह खड़ी रहीं ! दादा बाहर से टहल कर आए तब बुआ को बोल फूटा।

बोली — 'दुनिया में कुछ किस्मत जैसी चीज़ भी होती ही है !'

उनके इस मंगलाचरण का अर्थ किसीके ध्यान में नहीं आया। किसी न किसी 'हरिदास' का (कथावाचक का) कीर्तन उन्होंने अभी कहीं सुना तो नहीं ऐसी शंका मेरे मन में आ गई। पुराणों की कहानियाँ सुनाने में और वेदान्त के घूँट पिलाने में बुआ बिल्कुल एक नंबर थीं। बुआ ने देहली में पालथी मारकर जो बोलना शुरू किया तब माँ तुलसी चौरे के पास साँझ की ज्योत लगाने गई थी। उसका सब ध्यान इस बोलने की ओर होने से या जाने क्यों, नीरांजन उसके हाथ से नीचे गिरा और बुझ गया। 'ईड़ा पीड़ा टलो, अमंगल जलो !' माँ के कम्पित शब्द मुझे सुनाई दिए। न जाने क्यों, परन्तु मेरे हृदय में भी सिहरन दौड़ गई। उस हृदय रूपी नीरांजन में की प्रेम की ज्योत...

'यह देखो भैया, अंधा माँगता है एक आँख, और परमात्मा देने लगे दो, तो वह क्या करे ?'

दादा ने हँसते हँसते उत्तर दिया ' वह तीन माँगे ! यानी उस अंधे को एकदन शंकर का स्थान मिलेगा। '

बुआ की बात का लक्ष्य किस ओर है वह दादा के ध्यान में न आ सका। माँ चनक कर तुलसी चौरे के पास खड़ी थी। मैं ओसारे के एक खंभे से टिकी खड़ी बुआ की ओर चकित दृष्टि से देख रही थी। तरकस में से एक एक नया तीर बाहर निकालते हुए वे बोल रही थी – मैं सोच रही थी ये किसकी शिकार करने जा रही हैं ? उनके बोलने का कुछ मुझसे सम्बन्ध तो नहीं—?

' हमारा वसंत जो है वह बिल्कुल अन्धा है '। बुआ ने फिर एक संदिग्ध वाक्य कहा।

मेरे मन में आया — मेरा वसंत ! जीवन भर उसे अंधा ही रहने दो ! दादा को, बुआ के इस प्रकार पर्दे की ओट से शिकार करने का बहुत गुस्सा आया। वह बोले ' जीजी, साफ साफ कहो न, क्या बात है ? '

' साफ क्या कहना है ? अगर लोग आँखें ढाँक कर बैठे तो— ' दादा कुछ बोलेंगे इसलिए बुआ क्षण भर चुप बैठीं। परन्तु दादा मानो पत्थर का पुतला बने स्तब्ध बैठे रहे। उनके कपाल पर विचार के समय दिखने वाली रेखाएँ स्पष्ट दिखाई देने लगी थीं।

' वसंत को आजकल बड़े बड़े घर की लड़कियाँ ब्याहना चाहती हैं– '

' हाँ, मैं बड़ा नहीं हूँ, यह ज़ाहिर है। माहवार तीस रुपट्टी कमाने वाला मास्टर हूँ मैं ! '

' उसे बैरिस्टर बनने के लिए विलायत भेजने वाला ससुर भी शायद अब मिल जाएगा ! ' हम बारदेशकरों की जात है बहुत छोटी। इसलिए बुआ कुछ अपने मन का जोड़कर शायद कह रही हों, इस शंका से माँ ने कँपते हुए ओंठों से कहा – ' ज़रा सुनूँ भी तो उस ससुर का नाम ! '

माँ की ओर तीखी दृष्टि से देखकर बुआ ने कहा—'इंदु की माँ को हमारा वसन्त बहुत पसन्द आया है !'

'इंदु की माँ !' माँ ने काँपते हुए कहा। परन्तु उसके चेहरे पर न जाने कैसी हँसी खेल रही थी। दादा ने आराम कुर्सी झुमाकर उसकी ओर संकेत भरी दृष्टि से देखा। थोड़ी देर तक जब कोई कुछ भी नहीं बोला; और हम सब यों बैठे थे मानो किसी प्रेत के पास बैठे हों—मेरे प्रेम का प्रेत था ही वहाँ ! तब निचले ओंठ पर दांत जमाते हुए और गले में अटका थूक निगलते हुए मैंने पूछा—'बुआ, वसन्त ने वचन दिया है मुझे विवाह का !'

'होगा !' विकट हास्य करते हुए वे बोलीं 'मेरा वसंत कोई एकवचनी राम नहीं है।'

'तो क्या वह कृष्ण है ? सोलह हज़ार एक सौ आठ बहुएँ वह आपके लिए ला देने वाला है ?' मैंने गुस्से से थर थर काँपते हुए कहा—'उल्का, उल्का' कहकर दादा ने मुझे रोका न होता और पास न बुला लिया होता तो संभव है मैं मूर्च्छित होकर नीचे गिर पड़ती, नहीं तो बुआ पर मैं मारे गुस्से के झपट पड़ती। एक हाथ से मुझे थपकियाते हुए वे बोले—'बीजी, वसंत को अमीर की लड़की चाहिए यही न तुम्हारे कहने का अर्थ है ? उल्का, वसंत पर गुस्सा न होओ ! सारा अपराध मेरा है। मैं ही अमीर होता तो—'

अमीरी और रूप का मोह किसे नहीं होता ? परन्तु उसे स्वीकार करना कोई पसंद नहीं करता। बुआ का भी वही हुआ। वह ज़ोर ज़ोर से बोलीं 'मेरा वसंत चावल का पानी पीकर भी रहेगा। वह सोना देखकर आँखें लाल पीली कर लेने वाला नहीं है। परन्तु सोने की क़ीमत न हो तो भी धर्म की तो है न ? एल. एल. बी. बनने आया है फिर भी देव-धर्म सब चाहिए हमारे वसंत को !'

'उल्का तुम्हारे घर के देवता उठाकर बाहर न फेंक देगी।'

'वह जो कुछ हो, पर आख़िर वह है तो विधवा के ब्याह की!'

दादा ने गुस्से से बुआ की ओर देखा। माँ दूर खड्डे में खड़ी थी। वह भागती हुई सीढ़ियाँ चढ़कर आई। पानी से बाहर निकली हुई मछली की भाँति वह तिलमिला रही थी। बुआ के आगे हाथ नचाकर वह चीखी—'तारा विधवाविवाह की, और इंदु?'

'वह तो भली चंगी पहली शादी की है!'

माँ से रहा न गया। आव देखा न ताव, चिल्लाई—'परन्तु हुई किससे है? सारे शहर को मालूम है—उस पड़ोस के व्यापारी का इंदु की माँ से कितना प्रेम है, कौन नहीं जानता?'

'अरे अरे' कहकर माँ को रोकने दादा कुर्सी पर से उठे। मेरे सन्न हुए दिमाग में माँ के शब्दों ने एक नया ही प्रकाश डाला। निरा के विवाह के पहले प्रसाद कैसे लगाते हैं यह देखने मैं देवालय में गई थी। इंदु अपने पड़ोस के व्यापारी के साथ देवालय में आई। उन दोनों के चेहरों में की समानता देखकर मैंने इंदु से कहा 'यही हैं तुम्हारे पिता?'

उसने कहा –

उसके कहने से मुझे क्या करना था? सच्ची हकीकत माँ के मुँह से अभी अपने आप बाहर पड़ी। मेरे क्रुद्ध मन को लगा—'करने दो वसंत को इंदु से विवाह!' विवाह होने के बाद हम उसे कहेंगे—'मैं विधवा विवाह की इसलिए तूने मुझसे विवाह नहीं किया। और इंदु—वह तो बिना विवाह की है! उसके पड़ोस के व्यापारी के चेहरे की ओर देख ज़रा—'

क्रोध से एकदम भड़के हुए दिमाग में एक दूसरा विचार आया – 'इंदु की माँ वसंत को चाहे जमाई बना लेगी। परन्तु इंदु उससे विवाह करे तब न? वह तो कहती है कि विवाह ही नहीं करूँगी! अब खासी फ़ज़ीहत होगी वसंत की! इंदु जब ठुकरा देगी तो फिर आएगा मेरे चरण पकड़ने—

उस रातभर मुझे नींद नहीं आई। तपा हुआ माथा शांत करने के हेतु

से मैं आधी रात को धीमे से उठकर आँगन में आकर खड़ी रही। आकाश की तारिकाओं को देखकर मुझे लगा – चंद्रमा ने रजनी को धोखा दिया। उसीसे रजनी के हृदय के टुकड़े टुकड़े हो गए हैं। ये टुकड़े कभी एक होंगे क्या ?

परन्तु इस प्रश्न का उत्तर कौन देगा ?

उसी क्षण आँगन में के निशिगंध की मंदमधुर सुगंध वायु–लहरी के साथ मेरे पास आई।

१७

दादा ने वसंत को पत्र भेजा। उत्तर में केवल 'तुम्हारे जो पैसे मैंने शिक्षण के लिए लिये थे, वे मैं जल्दी ही लौटा दूँगा। माँ की इच्छा के विरुद्ध मैं नहीं जा सकता।' इतना ही मज़मून था।

माँ की इच्छा। माँ की इच्छा तोड़ी नहीं जा सकती। प्रणयचेष्टाओं का पानी सींचकर एक भोली कुमारी के मन में जगाई आशा का अंकुर एक झटके से उखाड़कर फेंका जा सकता है। यह वसंत कल वकील बनेगा— अपने गाहकों को न्याय प्राप्त करा देगा! परंतु इसके इस गुनाह को कौन पूछेगा ?

बुआ का इंदु की माँ से संबंध कैसे जुड़ा यह हमारे ध्यान में बाद में आया। चंद्रकान्त की माँ की और उसकी पहले ही भेंट हुई थी। दोनों ही पूरी मानमती थीं। हम किले पर गए उसी दिन चंद्रकान्त की माँ बुआ को इंदु के घर ले गई थी। इंदु की माँ की इच्छा थी कि अपनी लड़की यहीं कहीं ब्याही जाय तो अच्छा। बारदेशकरों में अधिकतर लोग थे व्यापारी। पढ़ी लिखी इंदु के बराबरी का दूल्हा मिलना – और वह भी इसी तरफ़ का रहने वाला – बहुत कठिन था। ! उन तीनों की मैत्री बढ़ते बढ़ते उसमें

से वह निष्पन्न हुआ था। बुआ को कुछ न कुछ दोष निकालना ही था। इसलिए उन्होंने दादा के विधवा विवाह की बात छेड़ दी। मानो मुझे वसंत से व्याहने की बात तै हो जाने के बाद दादा ने विधवा विवाह किया हो और मेरा जन्म हुआ हो !

इस सारी बात का दोष मैंने तब वसंत के सिर पर मढ़ा। उसका प्रेम मुझे सच्चा प्रेम—रवींद्र के काव्य में वर्णित प्रेम – जान पड़ा। परन्तु वह शुक्र का तारा नहीं था। वह तो केवल मनोरंजनार्थ लगाया गया आकाश-दीप मात्र था। बालगंधर्व की पसन्द, सिनेमा का आकर्षण, नाट्यमय प्रेमगीतों का शौक, और तरुणाई के साथ बढ़नेवाला प्रणयभाव – इन चारों बातों के परिपाक को वह प्रेम समझता था। और आश्चर्य यह कि मैं भी उसी बात को बिल्कुल दिव्य प्रेम मान बैठी थी ! छोटा बच्चा कोई भी वस्तु लेकर चखकर देखता है, उसी के समान प्रणयी हृदय भी प्रेम कर के देखता है। मामा वसंत को पैसे दे रहे थे, बुआ ने और माँ ने विवाह की मँगनी पक्की की थी। ऐसी स्थिति में उसके प्रणय का प्रवाह मेरी ओर झुका, इतना ही सच है। परन्तु पैसे का आकर्षण दिखाई देते ही – पैसा ! धनिक ! इस दुनिया में धनिक और दरिद्र के भेद न होते तो मेरा वसंत से निश्चित विवाह होता !

देहात में छोटी सी ढोलकिया भी बजी तो ढोल की भाँति उस की आवाज़ होती है। दादा हमेशा मज़ाक में कहते – 'देहात यानी पहाड़ी प्रदेश है। वहाँ ध्वनि की प्रतिध्वनि और प्रतिध्वनि की प्रतिध्वनि अवश्य होती ही रहती है।' दादा ने विधवा विवाह किया; तब गाँव में समूचे बरस भर इसी बात की चर्चा थी। मेरी शादी टूटनी भर थी बस, मेरी हालत कौओं की छावनी में घिरे हुए तोते के बच्चे की तरह हो गई।

कहीं उत्सव-त्यौहार में किसी घर में जाती तो झट से मेरी ओर उँगलियाँ उठाकर स्त्रियों में कानाफूसी शुरू हो जाती। देहात में लोग क्या बड़बड़ाते हैं इसका वैसे माँ को और मुझे पता भी न चलता। परन्तु निरा की माँ काम

पर जाती तो कुछ सुनती। भला बुरा कुछ सुनने पर अशिक्षित व्यक्ति चुप नहीं बैठ सकता। एक दिन पिछले दरवाज़े के पास के बरांडे में वह माँ को धीमे धीमे कुछ कह रही थी, और माँ आँखें पोंछ रही थी। मैं बैठी थी दादा के कमरे में कुछ पढ़ते हुए। प्यास लगी इसलिए पानी पीने जो रसोई घर में गई तो खिड़की में से माँ आँखें पोंछती हुई दिखाई दी। आड़ रह कर उनका संभाषण सुनने का मोह मैं न रोक सकी।

'किसने कहा यह सब इंदु की माँ को?'

'उसके यहाँ वह रसोई बनाने जाती है न, उसी का काम है, भाभी! इंदु की माँ ने इतना भला बुरा कहा कि—'

माँ ने 'हूँ' भी नहीं कहा। परन्तु निरा की माँ आगे कह ही रही थी—

'वह क्यों करता शादी ऐसी लड़की से? विधवा के दूसरे शादी की लड़की और जी का जंजाल — मुझसे पूछने लगी – तू गई है उसके यहाँ?'

'मैंने कहा किसके यहाँ?'

'उसी तारा के यहाँ?'

'क्या हुआ?'

'लड़का हुआ या लड़की यह तो मुझे मालूम नहीं' कहकर वह व्यंग से खिलखिला पड़ी। देखिए भाभी!'

निरा की माँ ने सुनाई इस बात से मुझे बेहद गुस्सा चढ़ा। पति बारह महीने बंबई में! यह यहाँ! पड़ोस के व्यापारी के गले में बाँहें डालकर इस स्त्री ने मेरी गायत्री की भाँति पवित्र माँ का मज़ाक उड़ाने का साहस किया! इस असंयमी, उच्छृंखल स्त्री को इंदु का चेहरा उस व्यापारी जैसा दिखाई देता है, इसका दुख नहीं है। परन्तु मेरी शादी क्यों टूटी यह जान कर भी मुझे दुश्चरित्रा ठहराने का उसका कितना आग्रह है! ऐसी स्त्री को लोग अपने दरवाज़े में खड़ा भी कैसे होने देते हैं।

लोग सिर्फ़ उसे दरवाज़े में खड़ा ही नहीं करते, परन्तु उसके दरवाज़े में

हाथ जोड़ कर खड़े रहते हैं। पैसा सर्वत्र-प्रय पापों को बचा लेता है यही सच है! मेरे दादा अमीर होते, तो मेरे रंग ढंग भी लोगों को बहुत अच्छे लगते। परन्तु मैं हूँ माहवार तीस रुपये मिलनेवाले मास्टर की लड़की! मेरे दादा आदर्शवादी होंगे, ऊँची शिक्षा और बड़े पगार की तनखा ठुकराकर एक स्कूल को अपना जीवन अर्पित करने में उन्होंने बड़ा स्वार्थ–त्याग किया हो, सिद्धान्त के लिए उन्होंने विधवा विवाह किया हो—परन्तु न बस्ती में घर न जंगल में खेत जैसी उनकी स्थिति है। ऐसे गरीब आदमी की लड़की के बारे में कुछ भी बड़बड़ाने में कोई भी क्यों हिचकिचाए?

मैं गरीब थी इसलिए वसन्त ने मुझे वचन देकर भी तोड़ डाला। दादा गरीब है इसलिए उनकी लड़की की चाहे जैसी निन्दा होती है। गरीबी! निरा, चन्द्रकान्त, मैं— हम सब गरीब ही हैं। सिर्फ फर्क हो तो गरीबी के प्रमाण मात्रमें है। निरा का रूप, चन्द्रकान्त की बुद्धि, मेरा प्रेम, ये सब पैरों के नीचे क्यों रौंदा जाता है? हम गरीब हैं इसीलिए!

ऐसे विचारों से जब सिर पक जाता है तब मैं चन्द्रकान्त का अंतिम पत्र लेकर पढ़ने बैठती हूँ। पत्र पढ़ते समय, कई कल्पनाएँ मेरे मन में नाचने लगती हैं। कल्पना, बँगाल की मेरी ही उम्र की लड़की। वह क्रान्ति के लिए प्रयत्नशील है। तब मुझ जैसी महाराष्ट्रीय स्त्री ने वैसा कुछ क्यों नहीं करना चाहिए? चन्द्रकान्त का पता अगर पुनः मिला, तो उसे झट से पत्र लिखूँगी—

'हिंदुस्तान के रंगमंच पर हम एक नया नाटक खेलें। 'मेंढक और बच्चे' यह संवाद बहुत पुराना हो गया है अब। नया—बिल्कुल नया कुछ चाहिए। नहीं तो बच्चे जब पत्थर मारने लगें तो मेंढकों को बाघ की तरह बच्चों के बदन पर दौड़कर जाना चाहिए। हमारे उधर स्त्रियाँ अभी नाटक में जाकर विशेष अभिनय नहीं करतीं। परंतु यदि

यह नया नाटक तुम अगर खेलने वाले हो, तो मैं तुम्हारे साथ आकर काम करूँगी।'

ऐसे विचार अधिक समय तक नहीं टिकते थे। कुछ तो भी अघटित हो जाय और मेरा विवाह हो जाय ऐसा मुझे बार बार लगता था। ठीक बीस बरस के सुखलोलुप मन की वह इच्छा थी, या व्यथित स्वाभिमान की वह निरी तिलमिलाहट थी यह आज तक भी मैं नहीं समझ सकी। परंतु पाँचवी (मिडिल) के बाद आगे की पढ़ाई के लिए हठ करते हुए मैं बैठी थी। पुन: पढ़ना चाहिए यह दादा ने अब सुझाया कि मेरा मन खट्टा हो जाता। मुझ जैसी स्थिति में लड़की के मन में आत्महत्या के विचार आते हैं ऐसा नाटक और उपन्यासों में मैंने पढ़ा था। परंतु बुआ के बोलने से मन को धक्का लगा—उस क्षण भी मुझे प्राण देने की इच्छा नहीं हुई। जीने की इच्छा यह एक बिल्कुल हलकी लकड़ी की तरह है। दुख के समुद्र में उसे कितना ही गहरे डुबाओ, वह ऊपर तैरकर चली आती ही है।

मेरी जल्दी शादी हो जाय तो अच्छा ऐसा माँ भी सोचती थी। परंतु वह हो कैसा यही प्रश्न था। जात बहुत छोटी यानी संख्या में कम। विधवा विवाह से जन्मी लड़की से शादी करने की कल्पना ही कोंकन के लोगों को जँचने वाली नहीं थी। दादा ने बीस पच्चीस बरस एकदम अकेलेपन में बिताए थे। कहीं जाना न आना। उस कारण से पूना बंबई में उनकी ज्यादह पहचान भी नहीं थी। हाँ, ज़बरदस्ती पहचान जाकर की, तो आखिर दहेज का प्रश्न आने वाला था यह भी निश्चित ही था।

इस घेरे में से छूटें कैसे। दादा पहले से भी अधिक उदास दिखाई देने लगे। माँ नित्य आँखों से आँसू ढालती। 'मुझे शादी नहीं करनी है अब।' ऐसा मैं मुँह से कहती। परंतु हम चक्रव्यूह में फँसे हैं और बाहर कैसे निकला जाय यह मालूम नहीं यह भाव सभी की मुद्रा पर हमेशा दिखाई देता था। दादा के विचार तरंग में से यह उद्धरण यदि उस समय मुझे पढ़ने को मिलता,

तो सचमुच बंगाल की लेइल्ला की भाँति मैं अपने आपको जलाने से भी न बचाती।

'उल्का का जन्म हुआ तब मुझे कितना आनंद हुआ था! परंतु आज? वह न जन्मी होती तो अच्छा हुआ होता ऐसा मुझे लगता है। बेल को फूल लगने में ही उसका जीवन साफल्य होता है यह सच है; परंतु खिलता हुआ फूल कीड़े कुतर जाएँ इससे तो वह न ही लगता तो क्या बुरा था।

यदि पैसा न हो तो ऊँची शिक्षा, अच्छा पति, सुख, खाने को चार कौर भी नहीं मिलते! समाज की सुविधा के लिए पैसा निर्मित हुआ। परंतु वह भस्मासुर अब शंकर के ही सिरपर हाथ रख रहा है! इसका नाश करने वाली मोहिनी—

कहाँ से आवेगी यह मोहिनी? अभी तो पैसे की ही मोहिनी सब पर छाई हुई है। जो पैसे के पीछे नहीं लगता वह महामूर्ख है! मुझे भी वकील बनकर चाहे जितना पैसा कमाना आता था। परंतु आदर्श के पीछे जाकर मैं ने वह कुछ नहीं किया। कम से कम इस गाँव में मुझ जैसा त्याग किसी और ने किया नहीं। इस त्याग का फल क्या है? इकलौती लड़की की शादी जो करीब करीब तै हुई थी वह टूट गई और काफ़ी दहेज देकर उसकी शादी करने की शक्ति मुझ में कहाँ है? तो भी भाग्य ने बहुत ग़नीमत की। चार बच्चे होते तो मुझे शायद दर दर भटकना पड़ता! बुद्धिवान और त्यागी लोगों की स्थिति सड़क पर के लावारिस कुत्तों जैसी हो और साधारण बुद्धि के स्वार्थी लोग हाथी की तरह अपने ही ठिकानों पर डोलते रहें। रक्त का पानी करने वाले खेतीहरों के और मज़दूरों के बच्चों को दो जून रोटी मुश्किल हो और पेट में का पानी भी जिनका नहीं हिलता ऐसे आरामतलब ज़मींदार और साहूकार दिन में इत्र के दीपक जलाएँ!

'क़िले के पास का वह धीवर लड़का कितना होशियार है! बेचारा सबेरे दस बजे खाकर आता है सो शाम को लौट जाता है। बदन पर फटे कपड़े

और हाथ में फटी किताबें! उसी की कक्षा में आने वाला वह इंदु का चचेरा भाई—स्कूल में पुस्तकें ले जाने के लिए उसके साथ में एक नौकर जाता है। अध्ययन के नाम पर कद्दू। धन की यह विषमता—'धीवर को गाय और ब्राह्मण को नाव' ऐसा ही यह किस्सा नहीं है क्या? ये दो चित्र—

'चंद्रकांत के उस अंतिम पत्र की बार बार याद आती है। इन दो चित्रों में का विरोध कब नष्ट होगा? मेरी प्रिय उल्का! क्या होगा उसका आगे चलकर? विवाह! परंतु वह कैसा होगा? विवाह! बिल्कुल स्वाभाविक बात है! परंतु हमारे समाज में कितनी अस्वाभाविक बन गई है वह? उल्का, क्यों तूने इस अभागे के घर जन्म लिया?'

●●●

आगे जल्दी ही एक दिन दादा को एक चिठ्ठी मिली। उन्होंने उसे खोल-कर पढ़ना शुरू किया था बस! पढ़ते पढ़ते वे पाकशाला में गए।

वह पत्र अन्ना साहब का था। शादी के पहिले भाभी के प्रपीड़न से ऊब कर माँ प्राण देने के लिए घर से बाहर चली गई थी। एक दयालु सज्जन ने उसे बंबई के विधवाश्रम में पहुँचाया। उस समय अन्नासाहब उस आश्रम के व्यवस्थापक थे। पत्र में का महत्त्व का अंश पढ़कर तो माँ एकदम आनंदित हो गई।

'आजकल बहुत वर्षों से आपकी ओर के कोई समाचार नहीं मिले। हाँ, वे समाचार जाने भी कैसे? हम बंबई में, आप कोंकन में। बंबई में पड़ोस के कमरे में क्या हो रहा है यह भी नहीं पता चलता। खून भी हो जाय तो अखबार दूसरे दिन पढ़ने पर पता चले। कहावत ही है—'दो आँखें पास पास रहें भली, जन्मभर नहीं मिलीं।

'परसों सहज पूना गया था। सहज यानी इतिहास संशोधन के कुछ काम की वजह से! हाँ, यह शौक लगा है आजकल मुझे! यदि लोगों को नया सुस्वादु बनाकर देना है तो वह पुराने में ही मिलाकर पिलाना होगा। हाँ, नया है पौष्टिक भस्म और पुराना है शहद!

९...

'तब कहने की बात यह कि वहाँ के एक इतिहास संशोधक से तुम्हारा पता मुझे मिला। पहले तुम्हारी ही तरह का एक लड़का था उनके घर। उन्हें उधर के किसी शिला – लेख की जानकारी चाहिए थी। इसलिए मैंने तुम्हें पत्र भेजा। वह जानकारी समय पर मिली! परंतु तुम्हारी जानकारी? एक अक्षर भी नहीं लिखा तुमने उस पत्र में!

आजकल नए नाटक में सूत्रधार नटी नहीं होती। तब जो हो चुकी उतनी ही भूमिका काफ़ी है। मतलब की बात इतनी ही है कि मेरे एक युवक मित्र इंग्लैंड से इंजीनियर बनकर अभी हाल में लौटे हैं। यहाँ की एक मिल में उन्हें अच्छी जगह मिली है। आजकल के ज़माने में इसे भाग्य ही कहें! क्योंकि यह आदमी जाति से है क़र्हाड़ा ब्राह्मण। वय छब्बीस सत्ताईस बरस है। परन्तु सफ़ाचट रहते हैं। बीस बरस के बच्चे लगते हैं। सामाजिक सुधार करने की उन्हें बहुत इच्छा है। 'कुछ तो भी बड़ा काम अपने हाथ से होना चाहिए ऐसा हमेशा कहते हैं। अपनी हा जाति की एक गोरी सुंदर लड़की को देखकर उससे विवाह करने की उनकी ज़रा भी इच्छा नहीं!

हाँ, भूल ही रहा था! तुम्हारा नाम परसों पूना गया था तबसे दिमाग में घूम रहा था। सोचा, तुम्हें कोई लड़की है या नहीं यह पूछा जाय। विधवा विवाह की लड़की की शादी – और उसमें भी कोंकन में – ज़माना कुछ सरल नहीं है अभी। बीस बरस के आसपास लड़की की उम्र हो बस काफ़ी है। पढ़ाई का क्या? पति से अंग्रेज़ी बोल सके इतना भी काफ़ी है। खाने पीने का सवाल नहीं। आप तो सिर्फ़ मछली ही खाते होंगे! परन्तु यह हज़रत इंग्लैंड में क्या क्या अपने पेट में डाल आए हैं क्या पता – हाँ, अब ये सब चलेगा ही। नया ज़माना जो है।

'शादी के योग्य लड़की हो तो बस तार कर दो। इस लड़के के माँ बाप हैं पुराने ढंग के। इसके पूर्व कि वे किसी को हाँ कहें हमें यह क़िला जीत लेना है।

तुम्हारा विवाह मैंने ही निश्चित किया था। तुम्हारी लड़की का ब्याह

भी मैं ही निश्चित करूँगा। इतिहास की पुनरावृत्ति होती है, सो इस प्रकार।'

दादा का और माँ का इस बात पर बहुत वाद विवाद हुआ। आख़िर दादा ने उन्हें पत्र भेजा कि वे इधर आकर लड़की को देख जाएँ। उत्तर में उनकी ओर से आने के दिन की सूचना मिली। मेरा हृदय स्पन्दित होने लगा। रात को नींद में मैं चौंक चौंक उठती। मन में विचार आता था—वसंत पर मेरा प्रेम था। अब इनसे मैं प्रेम कर सकूँगी? सच्चा प्रेम जीवन में एक ही बार किया जा सकता है ऐसा कवि कहते हैं। वह सच हो तो—

मन में ऐसा उल्टा सीधा कोलाहल चल रहा था। तो भी उनके आने के दिन की मैं बड़ी उत्सुकता से राह देख रही थी। उस दिन सवेरे जहाज़ का भोंपू सुना और मैं झट से जाग उठी। बंबई के आदमी हैं ये! और उसमें भी ये तो इंग्लैंड होकर आए हुए! उनकी पसन्द में मैं आऊँ ऐसा मुझे दिखाई देना चाहिए न!

जब मेहमान आए तब मंझले घर की खिड़की से मैं देख रही थी। आँगन में ही बुड्ढे से आदमी ने कहा — 'माणिकराव, मिष्टान्न की तैयारी कर लो!'

'वाह अन्ना साहब!' दूसरे ने उत्तर दिया।

सीढ़ियाँ चढते हुए अन्ना साहब बोले — 'अभी मोटर के आगे से एक लोमड़ी रास्ता काट गई। अगली सीट पर बैठे माणिकराव ने ही सिर्फ़ देखा उसे। सवेरे लोमड़ी का चेहरा देखने से बड़ा भाग्य जगता है!'

दादा ने चाय लेकर मुझे बाहर बुलाया। ट्रे टेबल पर रखकर मैं खड़ी रही।

माणिकराव ने कहा — 'बैठिए!'

मैंने बैठकर धीमे से उनकी तरफ देखा! कितना तेजस्वी था उनका चेहरा! यों ही नहीं किसीने उनका माणिक नाम रखा।

चाय पीकर उन्होंने एक नया अंग्रेज़ी दैनिक मेरे हाथों में दिया और उँगली से एक अंश दिखाकर पूछा 'इतना मज़मून पढ़ सकती हैं?'

मैंने ज़ोर से पढ़ा – ' बंगाली क्रांतिकारकों के षड्यंत्र में एक महाराष्ट्रीय युवक ! कलकत्ते के मैजिस्ट्रेट पर तीन महीने पहले फेंका गया बम। कल्पना और विजय इन दोनों षड्यंत्रकारियों को पुलिस ने पकड़ लिया।

' विजय माफ़ी का गवाह, मुख़बिर बन गया। तीसरा आरोपी पकड़ा जाने पर मुकदमा शुरू होगा। यह आदमी महाराष्ट्रीय है और फ़रार है। उसे पकड़कर ला देने वाले को हज़ार रुपयों का ईनाम दिया जाएगा। उसका नाम है चंद्रकांत ! '

१८

आगे की बातें मैंने किसी तरह पढ़ीं, परन्तु वे पढ़ते समय, मेरे स्वर में कंप हो गया था। उस कंप का कारण माणिकराव को कैसे ज्ञात हो ? वह बोले– बहुत ही भावुक हैं आप ! जैसा करेंगे वैसा भरेंगे ! साले षड्यंत्र करते ही क्यों हैं मरने के लिए ! '

मैं कुछ भी नहीं बोली।

दादा बोले–' इन युवकों का मार्ग चाहे ग़ल्त हो, परन्तु उनके त्याग के विषय में किसे शंका हो सकती है ? '

' त्याग ? दादा साहब, बिल्कुल १९०८ की कल्पनाएँ हैं आपकी। सती जाने का पागलपन पहले की स्त्रियों में था न ? यह क्रांतिकारक भी उसी कोटि के हैं। और इन षड्यंत्र वालों की योग्यता भी तो देखो। सब मिलाकर बड़ा षड्यंत्र रचा साहब, तो उसमें इनमीन तीन आदमी। और उसमें भी विजय बन गया मुख़बिर ! बेचारा बंगाली बाबू ठहरा। मराठों का गुरिल्ला युद्ध उसे कहाँ से मालूम होगा ? नहीं तो यह देखो चंद्रकान्त। जनाब फ़रार हो गए। '

चंद्रकान्त पकड़ा जाता तो उसे फाँसी दी जाती—कम से कम आजीवन

काला पानी तो उसे भुगतना ही पड़ता। यह मैं जानती थी। परन्तु उसका भागकर फ़रार हो जाना मुझे अच्छा नहीं लगा। दादा के पास आए हुए उसके पत्र! उनमें जो बड़ी बड़ी बहादुरी उसने छाँटी थी वह निरी मिथ्या कल्पनाएँ ही निकलीं।

दादा ने चंद्रकान्त की और हमारी पहचान है यह बात माणिकराव को ज़रा भी न पता लगने दी। पहली ही मुलाक़ात में अगर ये सब बातें प्रकट हो गईं तो संभव है उनका हमारे बारे में मत प्रतिकूल हो जाय, इस कारण से भी वे शायद चुप बैठे हों। मैं भी चुप्पी साधे रही। माणिकराव ने ही बातचीत शुरू की – 'इन क्रांतिकारकों से अधिक देश का नुकसान और किसी ने न किया होगा। अनुभव की बात कहता हूँ। गए साल बंगाल में किसी युरोपियन कलेक्टर का खून किया गया। इंग्लैंड में यह समाचार पहुँचा तब मेरे अंगरेज़ साथी इतने चिढ़ गए–'

दादा ने निर्विकार मुद्रा से प्रश्न किया 'तो कहना क्या था उनका?'

'ऐसे एक खून से स्वराज्य दस बरस आगे चला जाता है।'

'क्रांतिकारियों के मार्ग ग़लत हों यह मान भी लें, फिर भी देर से आने वाले स्वराज्य को पास लाने के लिए भी तो जनता को और कुछ करना ही होगा।'

'सही बात है—यही मेरा भी तो मत है। मुझे पहिले से कविता का प्रेम है। परन्तु काव्य रचने से देश सेवा थोड़े ही होगी। इसीलिए मैं जानबूझ कर उद्योग धन्धे में उलझा। मिलें बढ़नी चाहिए। कारखाने बढ़ने चाहिए–'

'परन्तु गांधीजी तो बिल्कुल मिलों के विरुद्ध हैं। मैंने डरते डरते प्रश्न किया। चुप बैठने से मैं मुख–दुर्बल हूँ ऐसा शायद उनका मत बने इस कारण से मैंने डरते डरते कहा।

'चाँद बाबा, चाँद बाबा थक गए क्या? निबौरी के पेड़ में छिप गए क्या?' जैसा शिशु गीत कोई बच्चा कहे और वह सुनकर दूरबीन लेकर

बैठे हुए उसके बाप को हँसी आए। माणिकराव ठीक वैसे ही हँसे। मैं लज्जा से पानी पानी हो गई। डर भी लगा मुझे थोड़ा। वे मुझे पागल कहेंगे और—माणिकराव के शब्द सुनकर मैं कुछ चैतन्य हुई! 'अंग्रेज़ी में Between Scylla & Charybis कहते हैं न? मराठी में कुछ बराबर याद नहीं आ रहा है मुझे...'

'एक ओर आग और दूसरी ओर बाघ।' संस्कृत सुभाषित का एक नया रूपांतर झट से मेरे मुँह से निकल गया। इस वाक्य का परिणाम माणिकराव पर हुआ ऐसा मुझे लगा।

उन्होंने कहा 'वाह वाह! गांधी को बाघ तो कह ही नहीं सकते! तब क्रांतिकारक बने बाघ और असहकारितावादी गांधी हुए आग! इनके बीच में राह निकालनी हैं हमारे देश को! पहले इस बाघ को गोली मारकर हम नष्ट करें और फिर यह आग बुझानी चाहिए! यानी—'

'यह सब तो अलंकारिक हुआ! प्रत्यक्ष जो कुछ करना हो–'दादा ने पूछा।

'पहले ही कहा था न मैंने। मिलें बढ़ानी चाहिए। कारखाने और खोलने चाहिए। गांधी कहते हैं–खादी से ग़रीब पेट का भरेगा! मान लो कि सब अमीर लोग एकदम लँगोटी वाले बजरंग के अवतार बन गए कि बस गांधी के मन की बात पूरी हुई। है यह भी एक पागल पन! यह देखो, मैं मिल में काम करता हूँ। उस में सात हज़ार मज़दूरों का पेट पल रहा है। सात हज़ार। है यह ताक़त खादी में?'

माणिकराव ने बड़े अभिमान से मेरी ओर देखा। उनके अंतिम वाक्य से मेरी भी आँखें चौंधिया गईं। सात हज़ार ग़रीब लोगों को पोसने वाली मिलें। इन कारखानों में के माणिकराव जैसे अधिकारी की मैं अर्धांगिनी बनूँगी! इन्हें मैं पसंद आ गई तो मेरे सब सुख स्वप्न पूरे होंगे। बंबई में रह सकूँगी। सभाओं में भाग ले सकूँगी। अख़बारों में नाम चमकेगा। इंदु जो जो करेगी

वही मैं भी कर दिखाऊँगी । वसंत से जो शादी तै होकर टूट गई, तो अच्छा ही हुआ । मुझे इस बात का अब तक दुख था । पर अब सच्चा आनन्द होने लगा ।

दादा के ओंठ एक दो बार हिले ऐसा लगा । परन्तु वे आगे कुछ नहीं बोले । बातचीत बंद हो गई देख अन्ना साहब जो इतनी देर चुप चाप बैठे थे बोले, 'दादा साहब, हमारे माणिकराव गड़करी के बड़े भक्त हैं, समझे !'

'अच्छा !' दादा ने उत्सुकता से पूछा 'उल्का ने गड़करी को देखा है बचपन में !'

'गड़करी क्या क्या बोले कुछ याद है तुम्हें ?'

माणिकराव के चेहरे पर की उत्सुकता देखकर मुझे भी स्फूर्ति आई । मैंने बड़े अभिमान से उत्तर दिया – 'मुझे बड़े प्रेम से पास बुलाकर उन्होंने कहा – 'नाम को सार्थक करने वाली कोई बात जीवन में करना !'

'वे मेरी ओर एकटक देखने लगे । सूर्य की किरणें जब आँखों पर सीधी गिरती हैं तब जैसा जान पड़ता है वैसा ही मुझे लगा और मैंने गर्दन फेर ली ।

'एक मजा करें हम' उन्होंने कहा–'गड़करी की कौनसी कविता हमें पसंद है यह हम में से हर एक, एक एक कागज़ पर लिखें और उसे नीचे रख दें ।'

झट से एक नोट पेपर निकाल कर उसके चार टुकड़े भी किए उन्होंने । उनकी इस बचपन भरी हरकत से मुझे गुदगुदी सी हो रही थी ।

सबने चिठ्ठियाँ डाल दीं । माणिकराव उन्हें खोलकर पढ़ने लगे

'दादा साहब–' बाग में खेलनेवाले नन्हे मुन्ने के प्रति'

अन्ना साहब—' राजहंस मेरा सोया'

बन्दानवाज—' प्रेम और मरण'

उल्का–उल्काताई–' गुलाबी पहेली'

मेरा नाम पुकारते समय पहले ये सिर्फ उल्का बोले ! साथ ही 'गुलाबी

पहेली' नाम से सब लोग एकदम हँसे। आनंद और लज्जा से मेरा मन जैसे भर गया।

माणिकराव ने कहा—'प्रेम और मरण' यही गड़करी की सर्वोत्तम रचना है। प्रेम अमर है। वह रूप नहीं जानता। विपन्नता की परवाह नहीं करता। मरण की चिन्ता नहीं करता – इस दिव्य प्रेम का कितना सुंदर चित्र इस कविता में खींचा है।'

वे यह कविता पढ़ने लगे। चंद्रकांत जैसा नहीं, फिर भी अच्छा था उनका स्वर। किंचित् ऊँचे मगर मधुर स्वर में उन्होंने साभिनय यह कविता कही। कविता सुनते सुनते मेरा अंग रोमांच से पुलकित हो उठा—

'नभ की चंचल बाला ने उसको उन्मत्त बना डाला!'

ये पँक्तियाँ कहते समय उन्होंने मेरी ओर कटाक्ष फेंका – वह कटाक्ष कैसा, मुझे तो हृदय का संदेश ही जान पड़ा वह!

उनका बोलना बहुत खुलापन लिए हुए था! दोपहर को दादा के साथ उनकी जो बातचीत हुई, वह मैं मँझले घर में से चुपचाप सुन रही थी। सामाजिक अन्यायों के विरोध में बोलते समय कितना लाल लाल हो गया था उनका चेहरा। मानो वह अन्याय दूर करने के लिए हम अपना रक्त बहाने को भी तैयार हैं ऐसा वे दिखाते थे!

दादा ने कहा 'मिश्र – विवाह तो हमारे समाज की दृष्टि से विष है!'

माणिकराव ने कहा 'मैं हूँ कन्हाड़ा। हम कन्हाड़े ब्राह्मणों को केंकड़ा कहते हैं। उसे क्या पड़ा है ज़हर का डर?'

दादा ने हँसकर कहा 'अच्छा, परन्तु आपके घर के बड़े बूढ़े क्या सोंचेगे?

'उन्हें पहले से पता ही क्यों चलने देंगे? हम लोग मिलकर एक षड्-यंत्र ही रचें। सामाजिक क्रांतिकारकों का षड्यंत्र कहिए चाहे तो।'

'परन्तु षड्यंत्र का परिणाम होता है यह पढ़ा है हमने सबेरे।' दादा के चेहरे पर हँसी थी परन्तु उनके भाल पर विचारों से उत्पन्न होने वाली शिकन भी नज़र आने लगी थी।

'मैं कोई चंद्रकान्त नहीं हूँ कि भाग जाऊँगा।' माणिकराव ने खिल-खिला कर उत्तर दिया।

उन्हें जहाज़ पर एक रात जगना पड़ा था। इसलिए हम पास वाली पहाड़िया पर ही टहलने गए। नित्य का दृश्य था। परन्तु उस दिन वही दृश्य माणिकराव को दिखाने पर मुझे बहुत आनंद हुआ। चारों ओर जहाँ तक दृष्टि जाती थी नारियल के बगीचे दिखाई दे रहे थे। उनकी ओर देखने पर ऐसा भास होता था मानो आकाश और धरती के बीच में हरा कालीन बिछाया गया हो। सामने छोटा सा खुला खेत उसके उस पार बालू के टीले और उनके उस पार क्षितिज तक नीला शांत समुद्र! हम पहाड़िया पर गए, तब माल भरकर कोई जहाज़ जा रहा था; दूर क्षितिज पर उस जहाज़ के इंजन का धूँआ ऊपर बादलों में धीरे धीरे मिल रहा था। दाहिनी ओर के छोटे से तालाब में अधूरे खिले कमल, खेत की ओर से इन नारियलों-खजूरों की ओर लौटने वाले तोते और काजू का आया हुआ कोमल हरा-पीला बौर, इनमें अधिक सुंदर क्या है यह यदि मुझे पूछा जाता तो, तो सचमुच उसका उत्तर मैं न दे सकती थी। हम पथरीली चट्टान पर बैठे थे। परन्तु उस चट्टान के आसपास चारों ओर हरियाली फैली थी। दुनिया में दुख से सुख भी इसी तरह चिपटा हुआ रहता है, ऐसा विचार मेरे मन में तब आया। गडरिये का एक लड़का पहाड़िया के एक छोर पर पतंग उड़ा रहा था। ऊँचे गए उस पतंग की डोर जरा भी नहीं दिखाई दे रही थी। इस कारण से एकदम देखने वाले को मानो कोई रंगबिरंगा पक्षी आकाश में धीमे धीमे विहार कर रहा है ऐसा जान पड़ता था। छोटे बच्चे के समान मैं बड़ी देर तक उसी ओर देखती रही।'

माणिकराव ने कहा—'क्यों, कहाँ है ध्यान तुम्हारा?'

गर्दन मोड़कर मैंने कहा—'पतंग की ओर'

'आसमान में ऊँचे उड़ता हुआ चक्कर काट रहा है।'

मैं सिर्फ हँस दी। मुड़कर देखा तो पतंग की डोर टूटने के कारण वह हवा पर भटकता जा रहा था। गड़रिये का बच्चा ज़ोर ज़ोर के चिल्लाता हुआ उसके पीछे भाग रहा था। उस बच्चे की भागदौड़ देखकर मुझे बहुत बुरा लगा।

माणिकराव ने कहा—' उस कागज़ के पतंग के लिए तुम्हें इतना बुरा लगता है ? पर उधर आसमान की ओर देखो—'

रंगबिरंगे बादल पतंग की तरह दिखलाई देते थे। थोड़ी इधर उधर घूमकर वे बिलम जाते थे।

वायु लहरी के साथ कहीं से मंद सुगंधि आई। दादा ने कहा ' बकुल का वृक्ष फूला है।'

' बकुल का फूल ! वाह !' माणिकराव ने मेरी ओर देखकर कहा।

दादा के ध्यान में उनकी इच्छा आ गई। वे बोले — ' उल्का, जाओ न उनके साथ ! फूल मिले तो माला तो तू ही बनाएगी !

' हाँ, मैं कोई मोटी चोटीवाला मद्रासी नहीं हूँ !' माणिकराव ने हँसते हुए कहा।

मैं उठकर खड़ी हो गई। एक बार लगा चलूँ उनके साथ ! झट से मुझे किले पर की उस घटना की याद आ गई।

' बड़ी लाजवन्ती है तू !' दादा ने कुछ रोब से कहा।

' स्त्रियाँ आखिर ऐसी ही रहेंगी। सामने देखो न। हज़ार बरस हुए होंगे, परन्तु सूर्य दरवाज़े में आते ही संध्या के गाल पर लाली चढ़ती ही है।' माणिकराव ने कवितामय भाषा में कहा।

तब मुझे जाना ही पड़ा। पहाड़िया पर की सब राहें मुझे मालूम थीं। इस कारण से वह पेड़ मैंने बहुत जल्दी खोज लिया। पेड़ छोटा सा ही था, परन्तु कलियाँ बिल्कुल ऊपर दिखाई दे रहीं थीं। ' अब क्या करूँ मैं ?' मेरे मुँह से सहजोद्गार निकला।

मेरी आवाज़ की नकल उतारते हुए वे बोले—' पेड़ पर चढ़ना होगा । '
' पर मुझे नहीं आता पेड़ पर चढ़ना । '
' मैं मदद करूँ ? '
' यह कोई चने का पेड़ नहीं है ! '
वे दिल खोलकर हँसे । और बहुत जल्दी ऊपर चढ़ गए ।
मैं प्रशंसा से उनकी ओर देखती रही ।
' हाँ । यह ले ! '
इस एकवचन ने मुझे उसी स्थान पर जड़वत बना दिया ।
' बदन पर फेंक दूँगा ! '
' मैं कहूँगी देवता ने मुझ पर पुष्प वर्षा की ! '

उनके हाथ में के फूल लेने के लिए मैंने हाथ ऊपर बढ़ाया । उन्होंने झुककर फूल दिए । फूलों के साक्षी में हाथ से हाथ लगे । मुझे उनकी ओर देखने का साहस ही नहीं हुआ । मैं समुद्र की ओर देखने लगी । सूर्यबिम्ब लहरियों को स्पर्श कर रहा था ! वह मधुर लोहित रंग मानों कुछ रंगों में बदल कर पहाड़िया की ओर आ रहा था ।

पेड़ पर से उतरते हुए उन्होंने कहा—' यह बकुल के फूल भी बड़े लजीले हैं ! '

' सो कैसे ? '

' देखो, वे कैसे छिपे बैठे हैं बुरके में ! ' एक कली पर का आवरण दूर करते हुए उन्होंने कहा ।

' मैं अब आपको एक धरोहर देती हूँ ! '

' धरोहर ? अरे बापरे ! ब्याज का भाव बहुत भारी होगा न ? हर क्षण को, हर पाई को सौ रुपये ब्याज, कि— '

' ब्याज नहीं इस थाती को ! बिल्कुल निर्व्याज (भोली) है यह ! '

मेरे श्लेष पर प्रसन्न होकर उन्होंने बच्चों की सी कविता कही—' मैना कैसी बोले मंजुल बानी ! '

मैं झट से बोल गई 'हुलसाने वाला कोई दूसरा ही है।'

हँसी कम होने पर वे बोले 'कहाँ है वह धरोहर ?'

बकुल के फूल उनके हाथों में देते हुए, मैंने कहा 'यह याद करके कल सवेरे मुझे देना।'

'अच्छा !' यह कहकर उन्होंने वे अपने रूमाल में हल्के से बाँध लिए।

दूसरे दिन सवेरे मैं उन फूलों के लिए कितनी उत्कंठित हो गई थी! कुछ भी हो, मैं उन्हें याद नहीं दिलाऊँगी ऐसा मैंने मन में निश्चय किया था। मैं सवेरे बाल गूँथने बैठी तब माँ रसोईघर में है यह देखकर वे धीमे से आए और सुंदर गुलाब के फूल उन्होंने लाकर मेरे सामने रखे।

'कहाँ से लाए ये ?'

'बाज़ार से !'

मैं इतनी हर्षोत्फुल्ल हो गई कि उन बकुल के फूलों की याद भी मुझे न रही। वे ताज़े ताजे गुलाब माला में गूँथकर मैं आईने में देखने लगी। इतनेमें माणिकराव किसी कारण से अन्दर आए। मैं लाज से दूसरी ओर देखने लगी।

'अब गालों को बालों से ईर्ष्या न होगी।' वे धीरे से बुदबुदाए।

वह सारा दिन आनंद में गया। रात को नींद में तो यक्षिणी के पंखों पर बैठकर मैं गंधर्व नगरी में घूम रही थी। सवेरे जागकर मैं आँखें मलकर देख रही थी तो तकिये के पास गुलाब की पँखुरियों का ढेर लगा था।

मुझे उन बकुल के फूलों की याद आई।

माणिकराव ने फूल दिए पर वे थे बाज़ार के गुलाब ! पहाड़िया पर से हुलास से तोड़े हुए बकुल के फूल सूखने पर भी उनकी सुगंध नहीं नष्ट होती। गुलाब की वे पँखुरियाँ देखकर मुझे रोना आया।

११

माणिकराव को मैं पसंद थी यह ज़ाहिर था। दादा का कहना था कि वह

अपने माँ बाप की इच्छा के विरुद्ध कुछ न करें। माणिकराव कहते—'आपने विधवाविवाह किया, सो आप की बहिन को अच्छा लगा था क्या? पहले पहले तो वह आप के घर में पैर भी नहीं धरती थी, यह सच है न? आप जैसे स्वार्थ-त्यागी आदर्श पुरुष तलवार की धार पर नाचें और मुझे जैसे अच्छे वेतन वाले व्यक्ति सर्व साधारण मार्ग से जाएँ यह कुछ मुझे नहीं जँचता। माँ बाप के और लड़कों के मत आजकल के समय में एकसे कैसे हो सकते हैं? बच्चों ने बुढ़ापे में माँ बाप का पालन-पोषण चाहे तो ज़रूर करना चाहिए। परन्तु वे कहेंगे, उनके आगे गर्दन झुकाना? ना! प्रेम कहाँ का? यह तो गुलामी है! और सभी युवक यदि माँ बाप के हाथ की कठपुतली बन गए, तो समाज मे सप्राणता आवेगी कहाँ से? सुधार होगा कैसे?'

ये बातें चल रही थीं तभी गोआ में जाने की योजना अन्ना साहब ने बताई। वे कभी भी इधर की तरफ़ नहीं आए थे। माणिकराव भी इस ओर नए थे। गोआ में बोरी शिरोड़ा की कामाक्षी माँ के पीहर की कुलदेवी थी। माँ की भक्ति बहुत थी कामाक्षी पर। परन्तु दादा आजीवन उस देवी के दर्शन के लिए नहीं गए थे। माँ को बार बार देवी के दर्शनों की इच्छा होती; परन्तु उसे जानबुझ कर कौन ले जाने वाला था? आख़िर दादा घर रहें और हम सब चार दिन गोआ में देवस्थान देख आवें ऐसा निश्चय हुआ।

गोआ का जहाज़ सबेरे आता था। इसलिए पहले दिन शाम को वेंगुर्लो के बंदरगाह जाकर हमें रात भर वहीं सोना पड़ा। समुद्र तरंगों के उस मंथन में मुझे किस तरह नींद नहीं आती थी। मस्तक में भी वैसा ही मंथन शुरू हुआ। वसंत और माणिकराव! दोनों की मूर्तियाँ आँखों के सामने खड़ी हो गईं। वसंत ने मुझे झिड़का न होता तो—मेरे विवाह के बाद माणिकराव ने मुझे देखा होता और आज जैसा ही वे मुझे प्रेम करते तो—समुद्र में रत्न रहते हैं, फिर भी समुद्र का चीखना पुकारना कहाँ बंद

होता है ! मेरा रत्न मुझे मिला था। फिर भी मन किसी तरह शांत नहीं हो रहा था। वसंत पर प्रेम करके पुनः माणिकराव से प्रेम करने में पाप क्या है ? नदी का बाँध बाँध देने पर उसका प्रवाह दूसरी राह नहीं जाएगा क्या ? इस प्रकार प्रश्न करके मैंने मन का समाधान कर लिया।

जहाज़ की घंटी बजने पर जल्दी जल्दी से हम पड़ाव में जा बैठे। पड़ाव चलने लगा और अब्बा साहब को याद आई – 'ओ हो ! मेरी सुँघनी की डिबिया तो धर्मशाला में ही रह गई !'

'मेरी कस्तूरी की डिब्बी मेरे साथ है।' माणिकराव ने शरारत से कहा।

जहाज़ पणजी की खाड़ी में पलटा, तब उस समय हम दोनों ही कठघरे के पास जाकर खड़े रहे। बीच ही में एक ज़ोर की लहर उठी। उसके मेरे बदन पर आए हुए तुषार मुझे अक्षत की तरह जान पड़े। जहाज़ बंदरगाह में आ रहा था, इसलिए बहुत से ईसाई और कुरवाड़ी लोग अपने नए सामान की व्यवस्था करने लगे। एक आदमी ने ज़री की साड़ी उपरने की तरह अपने बदन पर लपेट ली, यह देखकर माणिकराव ने कहा–'पागल है क्या यह ?'

'ना ! यहाँ नई चीज़ों पर चुंगी होती है ! यह नई साड़ी नित्य के उपयोग की है ऐसा दिखलाना चाहता है वह !'

'अच्छा ! सब नई चीज़ों पर होता है टैक्स ?'

'हाँ !'

माणिकराव के चेहरे पर चिंता की छटा दिखलाई दी। मुझे लगा, उनके सामान में कुछ तो भी नया है।

'तुम्हारे पास क्या है नया ?'

उन्होंने हँसते हुए कहा 'तुम पर मेरा प्रेम !'

'यहाँ पर उतरते समय सिर्फ नाड़ी देखते हैं, हृदय नहीं !' यह उद्गार बिल्कुल मेरे ओंठों पर आए थे। परन्तु वे मेरे मुँह से बाहर निकले नहीं।

जहाज़ बन्दरगाह की ओर जाने के लिए मुड़ा। सामने सूर्योदय हो रहा था। उसकी वे पीली सी किरणें मेरे बदन पर पड़ रहीं थीं। सृष्टि देवी की कितनी सुन्दर सुहाग की साड़ी थी वह। उन किरणों ने पानी में सुनहले स्तम्भ निर्माण किए। मेरे उन्मत्त मन को लगा—मैं सोने की द्वारका में हूँ। मेरा श्रीकृष्ण मेरे पास ही खड़ा है। मैं उसकी रुक्मिणी हूँ। रुक्मिणी को सत्यभामा की भाँति डाह करने वाली सौत: थीं इस बात का मुझे विस्मरण हुआ।

'हंगा हंगा', 'वच वच' जैसे गोमान्तकी बोली के शब्द और सुनने की आदत न होनेसे अजीव लगने वाले बोलने के तर्ज़ मुझे उस समय कर्णकटु नहीं लगे। चुंगी के चक्कर में से हमारा सामान बाहर आने को घंटा डेढ़ घंटा तो लग ही गया। माँ और अन्ना साहब दोनों ही ऊब गए। माँ ने तो कहा—'अजीब राज्य है यह सब!'

माँ और माणिकराव एक दूसरे की ओर यों ही देख रहे थे। उस अजीब राज्य में आने से हम दोनों पगला गए थे क्या ऐसा मुझे लगा।

मोटर में अन्ना साहब आगे बैठे। पीछे की ओर बीच में मैं और एक तरफ़ माँ और दूसरी तरफ़ माणिकराव बैठे थे। पणजी पीछे छोड़कर मोटर आगे जाते ही बाईं ओर का दृश्य बहुत सुंदर दिखाई देने लगा। धूप में चमकने वाला और चंचलता से किनारे पर आकर टकराने वाला खाड़ी का पानी, बीच ही में धूँआ उगलने वाला स्टीमर, पानी पर डोलने वाली छोटी बड़ी नौकाएँ। उस पार के किनारे की घनी झाड़ी, उसमें से झाँकने वाला क़िला—

छोटे बच्चे को नया खिलौना मिलने पर वह आनंद से जैसे दूसरे बच्चे को दिखाता है, उसी तरह मैंने कहा—'देखा यह सुंदर दृश्य?'

'वाह! कितना सुंदर है।' ऐसा माणिकराव ने उत्तर दिया। परन्तु यह वाक्य कहते समय उनकी दृष्टि मुझ पर टिकी है, ऐसा मुझे भास हुआ।

पुराने गोए में के विशाल गिर्जाघर के सामने से हमारी मोटर गई। तब

सहज उसके सम्बन्ध में बातें चलीं। ड्राइवर ने एक चर्च हमें ऐसा भी दिखलाया जो अभी भी महादेव के मंदिर के नाम से पहिचाना जाता है। उस पर सलीब अनेक बार चढ़ाया, परन्तु वह तभी गिर जाता था ऐसा माना जाता है। ज़ेवियर के प्रेत के अंतिम दर्शन के लिए कितनी बड़ी तीर्थ यात्रा यहाँ ईसाईयों की होती है इस बात का भी उसने रस पूर्ण वर्णन किया। वह समाप्त होने पर माणिकराव ने कहा – 'अण्णा साहेब, हम हिंदू लोग भी इन ईसाइयों से हार नहीं खाएंगे। हमारे यहाँ भी ऐसे अनेक ज़ेवियर हैं।'

'कौनसे हैं भाई ?'

'हमारी पुरानी रूढ़ियाँ !'

उनका समाज-सुधार का प्रेम इस कल्पना में से बहुत मज़े से व्यक्त होने के कारण मुझे उनके प्रति बहुत आदर लगा।

माणिकराव बोले इसमें कितनी सच्चाई थी ! रूढ़ी के प्रेत देखते बैठने में और उनकी पूजा करने में हमारा समाज निमग्न हो गया है। उसे चैतन्य बनाने के लिए नई नई सुधार की बातें युवकों को साहस पूर्वक काम में लानी चाहिए। बसंत का क्या ? जीवन भर वकालत करते रहेगा। उसके साथ विवाह हो जाता तो मेरा सारा जीवन फीका, बिल्कुल अलोना हो जाता। चंद्रकांत भी पागल है ! तीन आदमी के षड्यंत्र से कहीं देश में क्रांति होती है ?

रास्ते से मंगेश के देवालय तक वह सीधी सुंदर बाट और वह रम्य दीप मालिका अभी भी मेरी आँखों के आगे हैं। वेलिंग के सरोवर पर पर्वत के झरने में से आया हुआ और गोमुख में से गिरने वाला ठंडा जल मैंने एक बार ही पिया है। परन्तु उसकी याद अभी तक मैं नहीं भुला सकी। सभा-मंडप की संगमर्मर की फर्श और सामने का सुंदर सरोवर ये बातें हम प्रत्येक देवालय में देख ही रहे थे; परन्तु नागेश के सामने की वह रम्य पुष्करिणी ! उस सारे सरोवर की वह रानी ही जान पड़ी। वहाँ के एक कूएँ का पानी भी कितना मीठा और ठंडा था। नागेश से जाते हुए शांतादुर्गा

के देवालय का सोने का कलश नारियलों में से ऊपर चमकने लगा। वह रमणीय दृश्य भी मेरी स्मृति में से अभी दूर नहीं गया है।

मंगेश से शांतादुर्गा तक खूब देवालय देखे हमने। माणिकराव ने अन्ना साहब से कहा—'बिल्कुल अजीर्ण हो गया देवताओं का!' परन्तु माँ के लिए शिरोड़ा की कामाक्षी तक जाना जरूरी ही था। शाम को हम वहाँ पहुँचे। रहने की व्यवस्था करके हम सरोवर पर पैर धोने गए। वह सुंदर सरोवर, कामाक्षी के सामने ही वसंतोत्सव के लिए या न जाने किसके लिए बाँधा हुआ वह छोटा सा मंदिर और सायंकाल का रमणीय समय! सब के मन बिल्कुल आनंद से भर गए।

'गोमंतक को नंदनवन कहते हैं वह कुछ झूठ नहीं।' माणिकराव सरोवर के पानी को पैरों से हिलाते हुए बोले।

'इस नंदनवन में अमृत भी बहुत सस्ता है!', मैं परिहास में कह गई।

'क्या मतलब?' उन्होंने आश्चर्य से पूछा।

'शराब!'

हँसते हँसते उन्होंने एकदम कहा—'और अप्सरा?'

उसी समय कपड़े धोने के लिए एक स्त्री उस सरोवर पर आई। उसकी वह झिलमिल रंगीन साड़ी वह एक ओर ढला हुआ आँचल, कृत्रिम केश-रचना, लाल ओंठ, और ढीठ दृष्टि—वेश्या का पेशा करने वाली देवदासी में से वह कोई एक होगी ऐसा मुझे लगा।

थोड़ी देर कोई भी नहीं बोला। परन्तु माणिकराव उस स्त्री की ओर नज़र गड़ाकर देख रहे थे। वह स्त्री मुझसे भी सुंदरी थी इसमें सन्देह नहीं। परन्तु मुझे उनका इस तरह उसकी ओर देखना अच्छा नहीं लगा।

मैंने सुझाया—'चलो अपने घर चलें!'

'ज़रा और बैठें भी! ठंडी हवा है। सुंदर साँझ है—'

'और क्या है?' ऐसा उन्हें पूछने का मन हुआ; परन्तु वह साहस मुझे हुआ नहीं।

●●●

रात को सोते समय वसंत, माणिकराव, किंबहुना सारी पुरुष जाति बेईमान है ऐसा विचार मेरे मन में बार बार उठा। पुरुष के लिए नारी क्या है— जवानी का एक खिलौना? बस? जैसे छोटा बच्चा दूसरा बेहतर खिलौना देखने पर, पहिला फेंक कर उसी के पीछे लगता है, उसी तरह – बाहर के झींगुर की भाँति कई विकल्प मेरे मन में झनकार रहे थे। अँधेरे की भाँति उदासीनता भी मन में नाच रही थी।

परन्तु सबेरे मैं जगी तब बाहर सुंदर चाँदनी फैली थी। रात के कीड़ों की आवाज़ कहीं भी नहीं सुनाई दे रही थी। मैंने बड़े उल्लास से माणिकराव से कहा—'चलो टहलने चलें!'

उनकी भी वही इच्छा थी। अन्ना साहब और माँ इनमें से कोई भी ठंडी के मारे बाहर आने को तैयार न था।

जो मिली उसी पगडंडी से हम चलने लगे। दाहिने हाथ को छोटा सा पहाड़ दिखाई दे रहा था। वहाँ तक जाने का इरादा था। दिशाएँ उज्वला हो रही थीं। पहाड़ के सिर पर का धुँधला कुहरा बड़ा रम्य दिखाई दे रहा था। पैरों के नीचे की घास तो ओस से जैसे नहाकर तर हो गई थी। दूर जंगल में पेड़ों पर गिरने वाले ओस की टपटप आवाज़ सुनाई देने का भास होता था। मेरे तन मन में एक मीठी सिहरन दौड़ गई।

आसमान में दो पक्षी चहकते हुए उड़ रहे थे।

माणिकराव ने कहा 'देखा इस दर्पण में?'

मैं समझी कि नीचे के ओस-कण में देखने के लिए शायद वे कह रहे हैं। परन्तु जब उन्होंने उँगली से दिखाया तो मैंने ऊपर देखा। आकाश में उस आनन्दी जोड़ी को देखकर मैं हँस दी।

पहाड़िया तक जाकर मैं हम वापिस आए तब सूरज बहुत ऊपर चढ़ आया था। पाहुना आने पर लज्जा से घर में भागने वाले बालक के समान कोहरा अदृश्य हो गया था। घास पर कहीं कहीं ओस की बूँदों की नाज़ुक जालियाँ बिछी थीं। वे स्मृति–चित्रों की भाँति धुँधली हो रही थीं मैंने सहज आकाश की ओर देखा – दो पक्षी कर्कश आवाज़ करते हुए चोंच से एक दूसरे को कुरेद रहे थे।

हमारा बोलना कुछ विशेष न हो सका! परब्रह्म शब्द से नहीं जाना जाता ऐसा कहते हैं। प्रेम का भी वैसा ही होगा। देवालय पास आया तब माणिकराव बोले — 'क्यों मौन व्रत रखा है आज?'

'मौनं सर्वार्थ साधनम्' मैंने उत्तर दिया। वे सिर्फ़ हँसे।

घर की ओर हम मुड़ने वाले थे, इतने में कुछ मंजुल स्वर हमारे कानों पर आए। भजन? नहीं! देवालय की ओर वह गान नहीं सुनाई देता था। कुतूहल जाग्रत होकर हम दोनों उस दिशा की ओर मुड़े। थोड़े पास जाते ही ध्यान में आया कि वह बच्चों का स्कूल था।

'यह हिंद देश मेरा' गा रहे है शायद?' मैंने कहा। माणिकराव ने गर्दन हिलाई। गोमांतक के लोगों की मराठी भाषा पर भक्ति के वर्णन दादा से मैंने अनेक बार सुने थे। सरकार की सहायता न होते हुए गाँव गाँव उन्होंने मराठी शालाएँ चलाई हैं। भाषा के समान देश पर भी उनका विलक्षण प्रेम है ऐसा मुझे लगा। कितने मधुर लगते थे वे गाने के स्वर! गोमांतक के बालकों पर भी कला का वरद–हस्त होता है इस में सन्देह नहीं!

हम बिल्कुल पास आ गए स्कूल के। लड़के कहीं दिखाई नहीं दे रहे थे। परन्तु गाना तो साफ़ सुनाई दे रहा था।

लड़कों की एक एक टुकड़ी एक एक कड़ी दुहरा रही थी ऐसा बदलने वाली आवाज़ से जान पड़ा। 'यह हिंद देश मेरा' यह परिचित गाना नहीं था वह। हम ध्यान देकर सुनने लगे।

* " 'हा हिंद देश माझा'	गाती सभेंत बाला
गुंगूनि गतिनादें	धरितात लोक ताला
कृतिशून्य शब्दजाल	जणुं गंधहीन माला
बाहेर मंदिराच्या	निज दीन बंधु बघुनां
हा हिंद देश माझा	आणी मनीं न कोणी

● ● ●

'हा हिंद देश माझा'	गर्वे कशास गावें ?
कां पंजरांत रमुनी	नभ जिंकीतील रावे ?
रणदुंदुभीपरी कां	वदतील बोल पावे ?
विझवूं न शके झंझा	ज्योतीस ज्या विजेच्या
मुखिं गर्जना तिची कां	शोभेल काजव्याच्या ?

* 'यह हिंद देश मेरा	यह गान बालिकाएँ
गाएँ सभास्थली में	जन ताल भी मिलाएँ
कृतिशून्य शब्दजालें	या गंधहीन मालें
निज दीन बंधु बाहर	लख कब हमें व्यथा हैं ?
यह हिंद देश मेरा	' कोई न सोचता है

● ● ●

यह हिंद देश मेरा	क्यों हम सगर्व गाएँ ?
क्या पींजरे रमे ये	तोते गगन को पाए ?
रणदुंदुभी बनी रे	क्या बाँसुरी मंजीरे ?
झंझा बुझा न पाती	ऐसी महा तड़ित की !
जुगनूँ अगर करे भी	जयगर्जना विफल की !

● ● ●

* सुखशैलि चांदण्यांत गासी खुशाल रसिका
अंधार घोर खालीं ग्रासी अनंत लोकां
क्षण एक थांब ऐक आक्रोश दीन हांका
चल धांव घे दरींत गा दीप राग गानीं
फुलतां प्रकाश तिमिरीं येतील शैल चढुनी ”

गाना तो बिल्कुल नया था। पहिले कहीं भी पढ़ा हो ऐसा मुझे याद नहीं। देहाती स्कूल के बच्चों को ऐसे नए गाने सिखाने वाला मास्टर बड़ा ही आदर्शवादी होगा।

माणिकराव अंदर जाने को बहुत उत्सुक नहीं थे। परन्तु मेरी उत्कंठा मुझे चुप नहीं बैठने दे रही थी। शाला में जाने के लिए मैंने पैर उठाया! माणिकराव मेरे पीछे पीछे आ रहे थे। अंदर पैर धरते ही मैंने अध्यापक की ओर देखा। उस समय आश्चर्य से मैं चिल्लाई कैसे नहीं इसी का मुझे अचरज है।

चंद्रकान्त बच्चों को वह गाना सिखा रहा था।

२०

परन्तु चंद्रकान्त को देखकर मेरे मुँह पर व्यक्त हुए भाव माणिकराव ने स्पष्ट देख लिए होंगे। ‘तुम्हारी पहचान के हैं ये मास्टर साहब?’

मैंने ‘हाँ’ कहकर गर्दन हिलाई। ‘नाम क्या है इनका?’ यह अगला प्रश्न यदि माणिकराव ने किया तो इसका क्या उत्तर दूँगी?

* तुम गा रहे मज़े में सुख शैल, चाँदनी में,
नीचे अनंत जन पर घन अंधकार झूमे।
क्षण एक रुक सुनो भी आक्रोश दीन चीखें
चल दौड़ जा दरी में नवदीप राग गाओ,
तम में प्रकाश होगा इस शैल पार जाओ!

चन्द्रकान्त ने स्थिति भाँप ली। वह स्वयं उठकर आगे बढ़कर हम दोनों के पास आया। नमस्कार करके बोला– 'मुझे पहचाना, उल्का बहिन ?'

मैंने धीमे स्वर में कहा 'हाँ!'

'अतिथि कहाँ के हैं ?'

'बम्बई के।'

'गोआ देखने आए हैं शायद!'

'कामाक्षी, माँ के नैहर की देवी है! माँ भी साथ आई है।'

'दादा नहीं आए ?'

'नहीं। वे कहते हैं 'मेरा देवता मुझसे दूर नहीं हैं।'

'सच है, वे स्वयं देवता हैं!'

इस श्लेष से इतनी देर तक चंद्रकांत की और त्रस्त दृष्टि से देखनेवाले माणिकराव कुछ हँसे—उनकी ओर देखकर वह बोला–'अतिथि क्या बंबई के हैं ?'

'हाँ!'

'क्या करते हैं ?'

'मिल में ऊँचे ओहदे पर अधिकारी हैं।' यह बोलते हुए मूर्तिमान अभिमान मेरे शब्दों में उतर आया था।

'अच्छा!' कहकर चंद्रकांत ने गर्दन हिलाई।

झट से उन्होंने पूछा–'यह खास तौर से गोआ देखने ही आए हैं शायद ?'

'हाँ, वैसा कुछ नहीं—'

'फिर क्या देखने ?' मेरी ओर सूचक दृष्टि से देखते हुए चंद्रकांत ने प्रश्न किया।

सब को हँसी आ गई।

हँसी कम होने पर चंद्रकान्त बोला – 'मेरे बारे में कुछ कहा नहीं अब

तक पाहुनों को। परिचय कराओ, ज़रा अंग्रेज़ लड़की बनो न। ' इतना कह-कर माणिकराव की ओर मुड़कर वह बोला ' मेरा नाम है जयवंत शिरोड़कर। '

' शिरोड़कर। यानी आप मराठा हैं ? '

' हाँ ! '

खूब बिजलियाँ चमक रही हों और ऐसे समय में खुले मैदान में खड़ी हूँ ऐसा मुझे लगा।

' गोआ के रहने वाले हैं आप ? '

' नहीं जी ! पेट के लिए गोआ में आया। उल्का मेरी स्कूल की, बचपना की साथिन है। आप को याद है वह मेंढक का गाना उल्का बहन ? '

सच और झूठ का वह बड़ी चतुराई से मिश्रण कर रहा था।

हम जाने लगे तब उसने पूछा ' आप दोपहर को खाली हैं ? मुझे आप से खूब बोलना है। '

' हाँ, आइए हमारे घर। देव के पास ही हम ठहरे हैं। '

' आप ही आओ न स्कूल में। '

माँ ने कहीं उसे देख लिया तो सब भंडा फूट जायगा यह ध्यान में आया। मैंने कहा—' आऊँगी दोपहर को ! '

शाला पीछे रह गई तब माणिकराव ने मुझसे पूछा ' सचमुच यह स्कूल में तुम्हारे साथ था ? '

' हाँ ! '

' मराठा होकर भी खूब गोरा है। और आँखें तो कोंकणस्थ ब्राह्मण की तरह भूरी हैं बिल्कुल। क्या कहा उसने अपना नाम ? '

माणिकराव से झूठ बोलना मेरे लिए बहुत मुश्किल था। परन्तु वैसे किए बिना कोई चारा भी नहीं था। मैंने जवाब दिया—' जयवंत शिरोड़कर ! '

' बड़ा तेज़ दिखाई देता है। शिक्षा के अभाव में इस देहात में बेचारा सड़ रहा है। '

दोपहर को चंद्रकान्त मिलने पर न जाने क्या क्या कहेगा, इसी कल्पना के करने में न जाने कितना समय बीत गया मुझे पता ही नहीं लगा। सरोवर में बदन धोकर मैं ऊपर आई तब माणिकराव के परिहास से मुझे गुदगुदी हुई।

माँ के साथ मंदिर गई तब प्रदक्षिणा न करते हुए मैं वहाँ पर लगी हुई एक पटिया पढ़ने लगी। देव कृत्य के भाव वहाँ पटिया पर लगे थे। माँ ने कहा 'तू क्यों करेगी प्रदक्षिणा? मनलायक पति मिलने पर फिर—'

'यह क्या है माँ?' कहकर मैंने एक दो प्रदक्षिणाएँ भी की। परन्तु सच बोले तो माँ की आलोचना से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई।

परन्तु कोहरे के पीछे से पर्वत दिखाई देता है न? उसी प्रकार इस परिहास के पीछे भी मुझे पग पग पर चंद्रकान्त दिखाई दे रहा था। भोजन पर बैठने के पहले मुझे पिछले दरवाज़े की कांटेरी बेल में एक नया ही फूल दिखाई दिया। वह कौनसा फूल है यह देखने के लिए मैंने उसे तोड़ा। हाथ को काँटे तो लगे परन्तु इस चक्कर में उँगली में एक काँटा भी गया। माणिकराव ने वह काँटा निकालने के लिए मेरा हाथ आपने हाथ में लिया। यहाँ है, कहकर दिखाने के लिए मैंने बाँये हाथ की उँगली उठाई भी। इतने में माणिकराव ने झट से अपनी अंगूठी उतारकर वह मेरी उँगली में पहना दी।

काँटे का दुख कहीं का कहीं चला गया। लाज से मैं वह अंगूठी निकालने वाली भी थी। परन्तु माणिकराव ने इतनी बड़ी बड़ी आँखें की—

भोजन के समय माँ बोली—'तुम्हारा ध्यान नहीं है आज खाने में! लौंग से गर्मी और इलायची से सर्दी होने वाली आजकल की तुम लड़कियाँ हो! ज़रा सा काँटा सो क्या—' इतने में उनकी आँखें मेरी उँगलियों पर गईं।

'अंगूठी कहाँ से आई यह?' मैं क्या जवाब देती? माणिकराव भी सिर्फ़ हँसे!

अन्ना साहब ने कहा 'अरे वाह! तीन अंक तो हो गए शाकुंतल के। घर जाने पर अब दादा को कण्व का अभिनय करने को ही कहना बाकी है।'

अन्ना साहब यह सहज कह गए। परंतु मेरा मन न जाने क्यों कैसे दुख गया। अंगूठी – शाकुंतल ! उसका चौथा अंक – चौथे अंक के बाद पाँचवा अंक आएगा ही !

परंतु यह उदासीनता अधिक देर तक नहीं टिकी। माँ का हँसी मज़ाक और अन्ना साहब का कौर खिलाने का आग्रह इनके आगे मन की खिन्नता टिकती भी कैसे ? उन दोनों ने विवाह कहाँ, कब और कैसे हो, इसकी चर्चा भी शुरू की। मुझे लगता है, अगले साल नाती हुआ तो उसे लेकर मैं कामाक्षी देवी के दर्शनार्थ आऊँगी ऐसी माँ ने मानता भी ली होगी, मन ही मन। इस सारी व्यस्तता में मैं चंद्रकांत की याद भी भूल गई। आज उस बात का कितना बुरा लगता है। परन्तु बच्चे खेलने में दंग हो जाने पर उन्हें भूख की याद नहीं रहती ! प्रणय लीला भी आख़िर है क्या ? युवकों के खेल ही है न ?

उस दिन, रात को हम दोनों को ही किसी तरह नींद नहीं आई। दुख और आनन्द के शरीर पर होने वाले परिणाम में कितनी समानता होती है। आधी रात बीत गई। बाहर चन्द्रोदय हो गया था। माणिकराव ने कहा– 'सरोवर पर आती हो ? ठण्डी हवा से नींद भी आएगी।'

'न' कहने की बात मेरे मन में उठी न हो ऐसा नहीं। परन्तु दादा ने माणिकराव के आने से पहले ही मुझे कहा था– 'उल्का, इंग्लैंड में रहने वाले आदमी को ढीठ लड़कियाँ अच्छी लगती हैं। उधर स्त्रियाँ भी पुरुष की ही भाँति स्वतंत्रता से व्यवहार करती हैं ! उसमें भी जिससे अपनी शादी होनी है, उससे तो स्वतंत्रता से व्यवहार करना ही चाहिए। समुद्र की मर्यादा उसमें के ज्वार से निश्चित करते हैं, भाटे से नहीं ! विनय भी ऐसा ही होना चाहिए।'

यह सब पुरानी बातचीत मुझे याद आई। आलस उतारने के लिए मैंने हाथ में हाथ डालकर उँगलियाँ बजाई। तब मेरी उँगली की अंगूठी का स्पर्श

मानो मेरे मन को हुआ, और मैं झट से जाने के लिए चल उठी। चंद्र अभी अभी ऊपर उठा था। उससे सरोवर का दृश्य किसी सुंदर सपने की भाँति रम्य जान पड़ा। पानी में पैर डालकर मैं बड़ी देर तक बैठी थी। बड़ी देर बाद माणिकराव ने कहा—'उल्का, यह रात ऐसी ही बनी रहे तो कितना अच्छा हो!'

'हाँ, कभी भी सबेरा ही न हो!' मैंने कहा।

'उल्का, अपना ब्याह होगा तब होगा। परन्तु मन में तो तू मेरी और मैं तुम्हारा ही हूँ न?' मेरा काँपता हुआ हाथ अपने हाथ में उन्होंने थाम लिया। नदी के मुँह के पास बाँध बाँधकर उसे समुद्र से दूर कौन रख सकता है? मैंने उनके हाथ में हाथ दिया। उन्होंने झट से झुक कर उसे चूम लिया। एक प्रकार की मीठी बेहोशी मुझ पर छाने लगी। लगा—उनके कंधे पर गर्दन डाल दूँ और—

सरोवर की सीढ़ियों पर किसी के पैर बजे। हम चौंक कर अलग अलग हुए। वह व्यक्ति हमारी ही ओर आ रहा था। हम वहाँ बैठे हैं इस बात का उसे भान भी नहीं था। चाँद अब खासा ऊपर आ गया था।

उस व्यक्ति का चेहरा दिखलाई दिया—चंद्रकान्त! हमें देखते ही वह चौंककर पीछे हटा।

माणिकराव ने धीमे से कहा—'जनाब अच्छे रात रात भर बाहर रहने वाले जान पड़ते हैं।'

मेरे हृदय में जैसे किसीने गर्म सलाख चुभो दी। दिन भर मेरी राह देखकर चंद्रकान्त बिल्कुल थक गया होगा। मैं मिलने नहीं गई इस बात का उसे कितना बुरा लगा होगा। उदास मनस्थिति में उसे नींद कैसे आती? बेचारा सिर ठंडा करने के लिए सरोवर के पास आया होगा।

परन्तु माणिकराव से यह सब कैसे कहा जाय? उनकी दृष्टि में तो चंद्रकान्त था जयवंत शिरोड़कर नाम का, मराठा जाति का, एक पेट भरने वाला

अध्यापक। उसे रात को नींद न आने का कारण क्या था? उसका तो क्रांतिकारियों के षड्यंत्र से क्या संबंध हो सकता है?

● ● ●

गोआ में जब आ ही गए हैं तो दूध-सागर भी देख लें, ऐसा अन्ना साहब कहने लगे। माणिकराव की छुट्टी बाकी थी। तब उन्होंने भी सम्मति दे दी। मुझे भी वह नहीं देखना थोड़े ही था।

दादा शायद घर में चिंता करें इसलिए उन्हें उस समय जो पत्र मैंने भेजा उसमें का कुछ हिस्सा पढ़ने पर आज भी मन उद्विग्न होता है। मानव जीवन क्या निरा आशा और निराशा की कबड्डी के लिए बनाया गया क्रीड़ांगन है? दिव्य तारकों की भाँति लगने वाले प्रणय-भाव अंततः अंतरिक्ष में उड़ने वाले जुगनुओं के समूह के समान ही लगते हैं न? वह कुछ भी क्यों न हो, प्रणय मनुष्य पर कितनी ज़बर्दस्त जादू बिछाता है, यह उस पत्र पर से अब मुझे पता लग रहा है।

'कल अन्नासाहब ने भोजन के समय कविता गाने की एक नई बात कही। प्रथम माणिकराव ने एक छोटासा श्लोक, परन्तु बहुत ही सुंदर ढंग से गाया। बाद में मेरी बारी आई, तब मेरे सामने जैसे ब्रम्हांड घूम गया। परन्तु सब ने, विशेषतः माणिकराव के बहुत आग्रह करने के कारण मैंने किसी तरह 'सिपाही का गाना' बहुत रोते पीटते कहा। लड़की होकर भी माणिकराव की तुलना में कुछ भी गा न सकी मैं। मैं क़रीब क़रीब रुँआसी हो गई। आते समय अच्छे दो तीन गानों की रिहर्सल करके आती तो अच्छा होता, ऐसा मुझे तब लगा।

● ● ●

'दादा, मैं कितनी भाग्यवान हूँ। पाँच दस हज़ार दहेज देकर भी मुझे इतना अच्छा वर सात जन्म में भी मिला होता या नहीं इसकी शंका है! माणिकराव को पाँच सौ रुपये पगार हो चाहे पचास

हो, मुझे उसकी परवाह नहीं। मुझे गहनों की इच्छा नहीं, आवश्यकता भी नहीं। परमात्मा ने मुझे एक ही अनूल्य अलंकार दिया है।

और भी बहुत लिखने वाली थी मैं। परन्तु मन में छिप बैठी लाज लिखने ही नहीं देती। क्या करूँ ?

आपकी

उल्का'

दूधसागर देखकर हम घर लौटे। माणिकराव, दादा और अन्नासाहब की खूब बातें हुई। माँ बाप की अनुमति मिलने में चार छः महिने लगेंगे। वह न भी मिले तो भी हम विवाह तो करेंगे ही; सिर्फ़ अभी इस विवाह की निश्चिति की बात को गुप्त रखा जाय ऐसा माणिकराव का कहना था। उस में ग़ल्त कुछ नहीं था। दादा ने भी वह खुशी से मान्य किया।

बंबई जाने के पहले दिन माणिकराव ने निश्चय किया कि क़िले पर जाकर आया जाय। शाला थी इस कारण दादा तो साथ आ नहीं सकते थे। परन्तु शाला में आने वाला क़िले के पास का धीवर लड़का राह दिखानेवाले के नाते वे साथ भेजने वाले थे। दोपहर तक तो सब ठीक था। परन्तु खाते खाते माँ को ठंड देकर बुख़ार चढ़ा। दूध-सागर का प्रवास ऐसी सर्दी में उससे नही झेला जाता। शिला-लेख देखने के लिए अन्ना साहब और समय अच्छा कट जाय इसलिए मैं जाने वाली थी; परन्तु ऐन वक्त पर मेरा जाना टल गया। बुख़ार चढ़ने पर दो घंटों के बाद माँ को कै होने लगी। उसका सिर दबाना, हाथ पैर दबाना कौन करता ? मैं घर में ही रह गई।

वह धीवर का लड़का आया और उन दोनों को ले गया। शाम को माणिकराव वापिस आए तो चुपचाप पड़े रहे। मुझे लगा, मैं साथ नहीं गई इसलिए वे गुस्सा हो गए होंगे शायद। उनका गुस्सा हटाने के लिए मैंने कहा—

'मैं क्यों नहीं आई, मालूम है ?'

'मैं कोई भूत भविष्य जानने वाला ज्योतिषी नहीं हूँ।'

'ऐसा सुना है कि क़िला पुराने ज़माने के रहस्य आदमियों को कहता है। और गुप्त बातें तो षटकर्णों न कही जाय ऐसा नियम ही है; है न?'

'हाँ, यह बात सच है कि क़िला पुराने ज़माने के रहस्य कहता है।'

'क्या कहा उसने तुम्हे?'

'रहस्य फोड़ने के लिए कोई नहीं कहता।' माणिकराव ने ज़रा विचित्र स्वर से कहा।

यह संभाषण चल रहा था तब वसंत और मैं जिस दिन क़िले पर गए थे, वह दिन मुझे याद आया। मन कैसा कुम्मुसाया! परन्तु मैं अपने आप को समझा रही – 'मेरे हुए आदमियों के भी भूत नहीं होते, तो आख़िर बीते दिनों के कहाँ से होंगे?'

हमारी बातचीत सुनकर अन्ना साहब ने कहा 'क़िला पुराने समय का रहस्य बताता है यह सच है। मैं उस शिलालेख के पास एक सा बैठा था! माणिकराव घूम रहे थे उस लड़के के साथ!'

मुख मृग नक्षत्र की वर्षा जैसा होता है। वह एक बार गिरने लगने पर बौछार पर बौछार शुरू हो जाती है। अगला महीना डेढ़ महीना कितनी खुशी में बीता! माणिकराव के पत्र और उनके साथ आने वाली भेट की चीज़ें प्रति सप्ताह आती रही थीं। इंदु का इस बीच में पत्र मिला।

'माँ नें वसंत से (तुम्हारा फुफेरा भाई है वह, ऐसा सुनती हूँ!) मेरा विवाह निश्चित किया था। परन्तु मेरे पिता को परसों ही सट्टे में खूब फ़ायदा हुआ है। वे जल्दी ही एक मिल के साझीदार बनेंगे। अब उन्हें इतना गरीब जमाई कैसे पसन्द होगा? उन्होंने माँ को अपनी ना साफ सूचित कर दी। मेरा विवाह न करने की इच्छा यों आप से आप पूरी हुई। है न? मिल के मज़दूरों की सभाओं में

आजकल मैं हिस्सा लेने लगी हूँ। उल्का, तुम्हारा विवाह करने का पागलपन अभी भी वैसा ही है ?'

मुझे लगा, प्रेम को पागलपन कहने वाली इंदु ही खुद पगली है। ताज-महल के आगे अंधे को जा खड़ा किया तो उसे आनंद थोड़े ही होगा ? प्रेम पागलपन ही होगा शायद, पर वह एक मीठा पागलपन नहीं है क्या ? इंदु बड़ी होशियार मानी जाती है न ? परन्तु बड़े बड़े भी इस पागलपन के शिकार हो जाते हैं ! बिल्कुल नानी माँ बनकर उपदेश करती है मुझे ! परन्तु उन्हें कहो कि 'अभी कहीं बाई साहब का बीसवाँ बरस पूरा हुआ है। कल एक बार नाना दिखाई दिए कि नानी माँ का दर्शन रह जायगा एक ओर ! और—

'एक बार नाना दिखे कि' यह विचार मन में आया, तब मुझे अपने ही ऊपर हँसी आई। आज नहीं तो कल इंदु की फ़ज़ीहत होगी ज़रूर। हवाई जहाज़ में बैठकर पूरी आयु नहीं बिताई जा सकती। हवाई जहाज़ को भी ज़मीन पर उतरना ही पड़ता है !

बुआ की और बसंत की पूरी फ़ज़ीहत करने की खबर मुझे इसी चिठ्ठी से पहली बार मिली। क्षण भर ही क्यों न हो, प्रतिहिंसा का समाधान मेरे मन को प्राप्त हुआ। आधी छोड़कर पूरी को धाये ऐसे आदमी का हाथ मलते हुए लौटना देखना एक मज़े की बात है ! बुआ का चेहरा अब कैसा दीखता होगा यह एक बार देखा ही जाय, ऐसी तीव्र इच्छा मेरे मन में जागी।

उस दिन ईश्वर बिल्कुल मेरे मन में आ बैठे थे या क्या हुआ था कौन जाने ! शाम को बुआ सावंत वाड़ी से अचानक आई। साथ में चंद्रकान्त की माँ को भी वे लाई थीं ! इस हार के समय थोड़ा समर्थन हमें मिले इस दूरदर्शित्व से ही यह योजना की गई होगी। आ कर हाथ पैर धोते ही उन्होंने बड़े प्रेम से मुझे पुकारा— 'बेटी उल्का !'

उस पुकार से अकेली मैं ही नहीं तो दादा और माँ भी चकित हो गए!

मेरी कुछ समझ में नहीं आया। मनुष्यस्वभाव पर किसी ने रामबाण औषधि आजकल खोज निकाली है या नहीं और उसका पहला प्रयोग बुआ पर ही तो नहीं हुआ है ?

मुझे पास बुलाकर मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए वह बोलीं — 'कितनी सूख गई है तू ?'

बुआ चश्मा नहीं लगाती थीं। नहीं तो उसके काँच कहीं उल्टे तो नहीं लगे हैं ऐसा मुझे भ्रम होता। गए दो तीन महीनों में मेरी तबियत कितनी सुधर गई थी। कल ही दादा ने कहा था – 'उल्का के गाल अब उठने लगे हैं कुछ।'

माँ ने हँसकर कहा था – 'हाँ, अब आना ही चाहिए ऊपर। नन्हे बच्चों को माँ का गाल पकड़कर चिकौटी काटना अच्छा लगता है।'

इस परिहास से मुझे आनंद हुआ था। परन्तु वह मानो मुझे पसन्द नहीं हो ऐसा दिखाते हुए मैंने कहा 'हाँ, हाँ! घर का दरवाज़ा बड़ा बनाओ जल्दी दादा। नहीं तो मैं कोई घर के बाहर नहीं जाऊँगी। यहीं रहूँगी आजीवन।' यह सारा भाषण याद आ कर मुझे हँसी आ गई।

बुआ ने कहा 'हँसती क्या है री! अब तो पहले से आधी भी नहीं रही।'

चन्द्रकान्त की माँने ज़ोर दिया– 'परसों कीर्तन में कहा नहीं था कथा-वाचक जी ने ? चिन्ता क्या है ? चिता से भी बुरी है! पहले ही बड़े हाड़ की लड़की है! शादी की चिन्ता से सूख गई। अब बेटी, तुम्हारा भी ब्याह जल्दी ही होगा।

हवा किस दिशा में बहती है यह हम सब लोगों के ध्यान में आ गया। उसका सामना करने की अपेक्षा उसकी ओर पीठ करना अधिक अच्छा समझ कर दादा ने हाथ में समाचार–पत्र लिया। माँ रसोई बनाने लगी। और आकाश के सफ़ेद बादलों की पगडण्डी पर से पूनम के चाँद की बरात अभी

हाल में निकाली थी, वह देखकर मैं आँगन में इधर से उधर टहलने लगी।

खाना पीना हो गया। किला जीतना हो तो पहले आक्रमण करना ही चाहिए इस निश्चय से बुआ ने संभाषण आरंभ किया। इंदु की माँ, इंदु, इंदु का बाप, इन सब का उद्धार हुआ। अंत में आँखों में पानी लाकर वह बोलीं— 'वसंत अब शादी नहीं करेगा ऐसा कह रहा था। अच्छा वकील बना। शुरूआत से ही खासा कमाने लगा। आंबेगाँव के ज़मींदार बेलगाँव में रहते हैं। समूचा गाँव है उनके अधिकार में। वसंत अपनी जाति का है इसलिए उसकी तरफ़ वे काम देने लगे हैं।'

'फिर मामला अड़ा कहाँ है?' दादा ने पूछा।

'वह कहता है ब्याह करूँगा तो उल्का से ही।'

यह वाक्य सुनकर मुझे कैसा लगा यह कहना कठिन है। एक क्षण में मनुष्य के मन में इतना बड़ा तूफ़ान उठता है और परस्पर विरोधी इतनी भावनाएँ जागती हैं कि उनका शब्दों में वर्णन संभव नहीं।

'अच्छा जोड़ा दिखेगा दोनों का!' चंद्रकांत की माँ ने अपनी राय दी।

'परन्तु उल्का की शादी तो और दूसरी जगह निश्चित हुई है!'

'दूसरी जगह?' पैर के नीचे की ज़मीन दो टूक होने पर आदमी जैसा चेहरा बनाता है वैसा चेहरा बनाकर बुआ ने कहा।

'हाँ, दूसरी जगह। आप ने नाहीं कर दिया तो उल्का को जन्म भर क्वाँरी तो रख नहीं सकते।'

'कहाँ तै हुआ है?' बुआ ने धूर्तता से प्रश्न किया। जोड़ा गरीब भी हो तो वसंत की वकालत का रसभरा वर्णन करने की बात उसके मन में घूम रही थी।

'हाँ, हो ही गया है तै कहीं न कहीं।' माणिकराव को वचन दिया था इसलिए हो, चाहे बुआ से अधिक बोलने में कोई मतलब नहीं है इस विचार से दादा ने इतना ही जवाब दिया।

'गुप्त वर है क्या ?' बुआ ने डंक मारा। दादा कुछ भी नहीं बोल रहे हैं यह देखकर उन्होंने आगे कहा – 'इनके चंद्रकान्त से तो कहीं नहीं तै हुआ ? सुनती हूँ, वह भी गुप्त ही है आजकल। आपका क्या ? समाज सुधार करने वाले आप हो।' पिछली पीढ़ी में विधवा-विवाह हुआ। अगली पीढ़ी में भट और ब्राम्हणों के विवाह होने में क्या आपत्ति है ?' दादा सिर्फ हँसे। मैंने चंद्रकान्त की माँ की ओर देखा। लापता हुए लड़के की याद से उसकी आँखों में आँसू आ गए होंगे ऐसी मेरी कल्पना थी। परन्तु कहाँ के आँसू और कहाँ का क्या ? बुआ की समाज-सुधार पर व्यंगबाणों की बौछार आनंद से सुनते हुए वह चुप बैठी थी।

मंझले घर में यह सब संभाषण चल रहा था। मैं खिड़की में बैठकर वह सुन रही थी। उधर पीछे आँगन में किसी की छाया दिखाई दी। मैं चौंकी बाद में मुझे लगा की दादा के पास कोई आया होगा। बाहर जाकर यह सब देखना चाहिए। मैंने दरवाज़ा खोलते ही आँगन में के उस व्यक्ति ने ऊपर देखा। साफ़ चाँदनी में मैंने झट से पहचाना — चंद्रकान्त था वह।

● ● ●

अखाड़े के उसपार के नारियलों के झुरमुट में की छाँह में मैंने जाकर उसे खड़ा किया। और आँगन में आकर दादा को पुकारा। दादा के कान में घबड़ाहट के स्वर में मैंने सब कुछ कहा। वे बोले–'मैं लालटेन देता हूँ। वह लेकर पहाड़िया पर जाकर बैठो तुम। ये सब लोग सो जाएँ तब मैं आऊँगा बुलाने।'

दादा अंदर गए। उनके शब्द बाहर साफ़ सुनाई दे रहे थे।'उल्का की कोई सहेली आई हैं शायद वाड़ी से। कल सबेरे ही जायगी बंबई। उसने मिलने के लिए बुलाया है उल्का को।'

मुझे हँसी आ गई। चंद्रकांत मेरी सहेली ! लालटेन हाथ में लेकर मैं आगे बढ़ी। चंद्रकांत पीछे आने लगा। राह कुछ ऊँची नीची थी इसलिए

में मुड़कर बार बार उसे दीया दिखाती थी। दोनों ओर घनी झाड़ी थी। उनके कारण छाया और चाँदनी का विचित्र मिश्रण पग पग पर दिखाई दे रहा था। मुझे क्षण भर वह मेरे ही मन का प्रतिबिंब जान पड़ा।

पहाड़िया पर इस रात के समय कौन होगा? माणिकराव आए थे तब जिस चट्टान पर हम बैठे थे, वहीं अब भी हम जा बैठे। चाँदनी सफ़ेद झक् बिछी हुई थी। सामने समुद्र किसी पुरानी मधुर याद की तरह धुँधला परन्तु रमणीय जान पड़ता था! बाईं तरफ़ नारियल। दाहिनी तरफ़ सरोवर — सब ओर शांति फैली हुई थी। समुद्र का शांत गंभीर स्वर किसी मंदिर में 'रुद्र' के आवर्तन की तरह जान पड़ा! पहाड़िया के बिल्कुल दूर के कोने की तरफ़ मैंने सहज देखा। एक चिता जल रही थी। माणिकराव आए उस दिन वहीं बच्चे पतंग खेल रहे थे। पतंग — चिता! माणिकराव चंद्रकांत!

'सौ बरस की उम्र है तेरी।' थोड़ी देर से मैंने चंद्रकान्त से कहा।

'वह कैसे?'

अभी याद की थी तुम्हारी हमने!'

'अच्छा?' उसके चेहरे पर आनंद की छटा चमक गई। उसने उत्तर में कहा—'सौ वर्ष आयु हो तो अच्छा ही होगा। देश सुखी दशा में देखने को मिलेगा हमें।'

'कैसे सुखी होगा वह?' मैंने व्यंग से पूछा।

'कैसे? उल्का, यह प्रश्न इतना सरल है क्या? रानड़े – आगरकर – तिलक – गोखले – कितने कितने बड़े लोगों ने यह प्रश्न छुड़ाने का प्रयत्न किया। वे विभूतियाँ गईं, परन्तु प्रश्न का हल नहीं मिला अब तक।'

'महात्मा गान्धी से भी यह प्रश्न नहीं हल हो सकेगा?'

'सच कहूँ? गान्धी बड़े हैं; परन्तु यह प्रश्न उनसे भी बड़ा है।'

'तिलक से लेकर गान्धी तक सब फेल हो गए इस प्रश्न में! फिर

पास कौन होता ? तुम जैसे क्रांतिकारी ? यह बोलते समय माणिकराव ने जो क्रांतिकारकों की निन्दा की यह मुझे शब्दशः याद थी। उसमें प्राणों के डर से गोआ में छिपे बैठे एक साधारण मनुष्य ने सब बड़े लोगों की इस प्रकार आलोचना की इस गुस्से का और ईंधन गिरा !

चंद्रकान्त ने शांतिपूर्वक कहा—'उल्का, पास-नापास का प्रश्न नहीं है यह। एक रीति से सवाल यदि हल न हुआ, तो दूसरी रीति खोजनी ही पड़ती है न ?'

'दुनिया से अलग कोई अजब रीति से चलने से क्या सवाल पूरा हो जाता है ? तीन आदमी किसी एक आदमी का खून करने का षड्यंत्र रचते हैं—एक भाग जाता है, दूसरा माफ़ी का गवाह बन जाता है ! कैसी हैं ये रीतियाँ ?'

'मेरा ज़रा सुन भी तो ? उस दिन 'शिरोड़ा में मिलने आती हूँ' यह तुमने कहा और तुम आई नहीं। मुझे कितना बुरा लगा। रात भर नींद नहीं आई मुझे उस दिन !'

'मैं भूल गई थी उस दिन !' मैंने कुछ दबकर कहा।

'भूलने का औषध लेने पर भूल जाना स्वाभाविक ही है !'

'यानी !'

'यानी क्या ? प्रेम यह एक अजीब औषधि है ऐसी। एकलव्य की कथा है महाभारत में। उसने जब निशाना रखा तब उसे पास के आदमी नहीं दिखाई दिए, पेड़ नहीं दिखाई दिए, उसकी शाखाएँ भी नहीं दिखाई दीं। उसे दिखाई दे रहा था सिर्फ़ जिस पर निशाना ताका गया है वह पक्षी !'

'अनुभव के बोल दीखते हैं ये।' उसका परिहास उसी पर लौटाने के विचार से मैं कह गई।

'अनुभव सचमुच में है, परन्तु बहुत कड़ुआ है वह !' इतना कहकर उसने एक साँस भरी। उस जलती चिता की ओर बड़ी देर तक देखता रहा

मुझे बचपन की याद आ गई। वह ऐसा ही समुद्र की चट्टान पर बैठा था। मैंने जाकर उसे पुकारा और मृत्यु के मुख में से वह बाहर आया। मुझसे रहा न गया। मैंने कहा 'चंद्रकांत, पागल की तरह उधर क्या देखते हो एकटक ? यह देखो –' मैंने कुछ पास जाकर उसके मस्तक पर हाथ रखा। कितना तप गया था वह !

मैंने झट से हाथ पीछे खींच लिया, यह देखकर वह बोला—'क्यों, हाथ को भी जलन लगी ? मेरे सिर में भी ऐसी एक चिता धधक रही है। परन्तु अभी उस प्रेत की राख नहीं हुई है।'

किस बात को सामने रखकर वह सब कह रहा है यह मुझे नहीं जान पड़ा। परन्तु उसके बारे में मन में बड़ी सहानुभूति उमड़ आई। मैंने उससे कहा—'तुम्हें क्या होता है कुछ कहो भी तो !'

'एक ही बात कहता हूँ तुझे। एक था राजा और एक थी रानी–'

'ऐसे घुमा फिराकर, कुछ मन में छिपाकर क्यों कहते हो ? उस राजा का नाम था चंद्रकांत और रानी का नाम था कल्पना !' मुझे जो सूझा सो मैं बोल गई।

वह एकदम चौंक गया। क्षण भर चुप बैठा और फिर हँसकर कहने लगा–'उल्का, सी. आई. डी. में तुम्हें अच्छी जगह मिलेगी।'

'क्यों ? तुम जैसे फ़रारी आदमी को पकड़ने ? चन्द्रकान्त, क्रांतिकारक षड्यंत्र करते हैं या प्रेम करते हैं रे ?'

'दोनों करते हैं ? आख़िर आदमी ही हैं वे भी। उल्का, सच कहूँ तुझे ? कल्पना को शांति-निकेतन के पास, मज़दूरों के झोंपड़ों में मैंने सब से पहले देखा। मेरे आदर्शों की देवता ही जान पड़ी वह।'

'– आदर्शों की कि हृदय की ?' यह प्रश्न बिल्कुल मेरे मुहँ तक आया था। परन्तु वह मैंने नहीं पूछा।

'मजदूरों की स्त्रियों को पढ़ाना, बच्चों को दवा देना, ऐसी कई बातें यह हफ्ते में दो बार आकर करती थी। उसके साथ मैं कलकत्ता गया और इस जाल में फँस गया।'

'कौनसे ? प्रेम के ?'

'प्रेम के और षड्यंत्र के! उल्का, एकाध दूसरे अधिकारी के खून से कहीं क्रांति हो सकती है ? राज्य को क्या तुमने बच्चों का खेल समझ लिया है ? मुझे तो सब समझता था। परन्तु विजय और कल्पना की पाँच बरस से मैत्री थी। विजय को अधिकारियों के खून के सिवा कुछ नहीं दिखाई देता था। मैंने उसे कई बार समझाया। वर्षा के दिनों में हमारे यहाँ पतंग और पक्षी दीपक पर दौड़े नहीं आते ? उसी में से ये क्रांतिकारियों के षड्यंत्र भी समझो। पक्षी जल्दी से जल जाते हैं। ज़रा सी आवाज़ होती है, बस। किसी का दीपक पर दौड़ना बराबर निशाने से रहा, तो कोई दीपक बुझ जाता है। परन्तु दीपक बुझा इस कारण से तेल और माचिसें नहीं चुक जातीं। फिर झट से वही दीया लगता है–'

'तुमने संबंध क्यों छोड़ा नहीं अपना ?'

'विजय का छोड़ा होता। पर—'

'कल्पना का नहीं छोड़ सके, यही न ? सच है यह ? तू कवि है और वह कल्पना!'

थोड़ासा हँसकर वह बोला 'कलकत्ते में काली के मंदिर होते हैं उल्का! कामाक्षी के नहीं! और मंदिर के आगे सरोवर भी नहीं होते। तब वहाँ की चाँदनी में शोभा देखने –'

'गोए की बातें हम बाद में कहेंगे। पहले कलकत्ते की बताओ तुम।'

'क्या बताएँ ? तुम्हारे लिए आज मैं यहाँ नहीं आया ? कल्पना के कारण वैसा ही कलकत्ते में अटका रहा। उस बम से प्रत्यक्ष संबंध मेरा कुछ नहीं था। परन्तु, पुलिस को शायद तीनों का एक साथ फोटो मिल गया–'

'तीनों का निकाला था क्यों फोटो ?'

'निकालने वाले थे दोनों का ही! मेरा और कल्पना का! उसने विजय को पता ही नहीं लगने दिया। पर ऐन समय वहाँ विजय आ गया।'

'बिल्कुल रंग में भंग हो गया क्या ?'

'ना जाने क्या होना था सो हुआ। उस फोटो के दिन से, कल्पना मुझसे प्रेम करती है यह विजय जान गया। वह मुझे अपना रक़ीब मानने लगा। कल्पना के भी यही ध्यान में आ गया होगा। उन दोनों ने मेरे आने से पूर्व ही कुछ करने का फैसला किया था। कल्पना किसी भी तरह शपथ तोड़ने को राज़ी नहीं थी। एक दिन काशी में उसकी मौसी बिमार है कहकर उसने मुझे काशी भेजा। मैंने उसके दिए हुए पते पर जाकर देखा तो न मौसी मिली न और कोई। उसी दिन के अखबार में कलकत्ते के मैजिस्ट्रेट पर बम फेंकने की खबर मैंने पढ़ी। कल्पना और विजय — दोनों ही पकड़े गए। विजय मुखबिर बन गया ऐसा सुना। पुलीस के हाथों पड़ने का मतलब था आजीवन जेल में पिसते रहना, इसलिए मैं सीधे गोआ में चला गया।'

उसका जीवन मुझे एक रहस्यमय उपन्यास ही जान पड़ा।

बड़ी देर तक चाँदनी की ओर चन्द्रकान्त देख रहा था। बाद में मेरी ओर मुड़कर वह बोला—'यह चाँदनी तो आकाश का संगीत जान पड़ता है। हम भी इस समय गुनगुनाएँ, है न—'

'कहो कोई नया गाना—'

'वाह! पहाड़िया पर कौन चिल्लाता है कहकर पुलिस इधर आवे और मुझे पकड़कर सौंपने का एक हज़ार का ईनाम पाएँ। उससे तो तू ही लेकर मुझे चल पुलीस थाने पर। हज़ार रुपये का उपहार भी करने जैसा होगा तेरे विवाह में!'

किंचित् हँसकर मन्जुल स्वर में वह गाने लगा—

* "बाळ होऊं या	खेळ खेळूं या
मृष्टीलाही खेळीमेळीं	बाळ करूं या ॥ ध्रु. ॥
आकाशाच्या अंगणांत	प्राजक्ताचा सडा होत
फुलवाया पृथ्वीलागीं	प्रेम वर्षूं या ॥
वाळूनियां नित्य पाणी	श्रमली ना वर्षाराणी
बाळें तिचीं हळुहळु	जळ सिंचूं या ॥
रुसोनियां पानांआड	बसल्या ज्या कळ्या द्वाड
लाडें लाडें त्यांना गोड	हंसूं आणूं या ॥
विश्वाच्या या भव्य वृक्षीं	तारकांचे दिव्य पक्षी
डोलवाया नरमुखीं	जळ घालूं या ॥
किती उंच अंतराळ	भूमि भासे खूप खोल
वायूचा हा हातीं तोल	भीति कासया ॥
मरणाचें भय कोणा	प्रेमा मृत्यू नाहीं जाणा
होऊनियां मोतीदाणा	पर्णीं नाचूं या ॥
साईसुटय म्हणूनीयां	रानीं धावूं या लपाया
तृणपर्णांमागें उगा	सारे बसूं या ॥
मांडूं ऐसा लपंडाव	शोधशोधो सूर्यदेव
हातीं त्याला लागतांना	हांसूं नाचूं या ॥
किरणांच्या विमानांत	वायूवरी झोके घेत
प्रेमगान गात गात	वरीं येऊं या ॥

'छोटे बच्चों का गाना दीखता है ?'

'छोटों का क्यों ? बड़ों का भी है। कल्पना को सिखाया था यह मैंने। वह हमेशा गाती थी।'

* आओ बालक बन	खेलें खेल अगिन
प्रकृति को भी खेल खेल में	बालक बना चलें !
आसमान के आँगन में है	पारिजात बिछ बिछ जाते
धरती पर भी उन्हें खिलाते	प्रेम छिड़कते चलें ॥
नित्य उन्हें करती अभिसिंचन	थकी नहीं वर्षारानी पल,

मैंने उसकी ओर देखकर हँसते हँसते पूछा—' ये ओस की बूँदें बचे बनकर क्या करेंगी अब? अच्छा गोआ में सुरक्षित था—'

' सिर्फ प्राणों की रक्षा करने से क्या होता है? उसका कुछ उपयोग भी है? गुनाह न होते हुए पाँच दस बरस का सश्रम कारावास सिर पर आएगा इसलिए पहली बार गोआ में गया। परन्तु मन की टीस किसी तरह कम नहीं होती। उल्का, पेट की भूख दोपहर में ही लगती है, हृदय की भूख तरुणाई में पैदा होती है; परन्तु आत्मा को कब भूख लगती है इसका कुछ नियम नहीं है और वह लगने पर दूसरा कुछ नहीं सूझता। वह कैसे तृप्त करें—'

वैसे उसके वाक्य का मैंने मजाक भी किया होता। परन्तु रात के दस बज गए तो भी वह अभी भी भूखा है यह बात एकदम मेरे ध्यान में आई।

---

* बढ़ते बालक हौले हौले
रूठी पत्तों की छाया में
उन्हें दुलारें मीठी मीठी
भव्य वृक्ष यह विश्व उसी पर
वहीं डुलाते तरुमूलों पर
कितना ऊँचा यहाँ गगन है
किंतु हवा का रथ है कर में
मरण भीति किसको हो?
मोती के दाने बनकर हम
बस जंगल में आँखमिचौनी
घासपात के पीछे चुपचुप
ऐसी आँखमिचौनी खेलें
उसके हाथ लगें तो हम भी
किरणों के विमान में हम भी
प्रेमगीत वह गाते गाते

पानी सींच चलें।
जो जो कलिका दुष्ट यहाँ पर
हँसी खिलाते चलें॥
तारक पक्षी दिव्य मनोहर
जल हम भी डालें॥
भूमि बहुत गहरी दिखती है,
भय किस का पालें?
प्रेम नहीं है मृत्यु जानता
पत्तों पर नाचें!
भागे, खेलें सदा सलौनी,
सब जाकर बैठें!
जिसको सूर्यदेव बस खोजे,
... और नाचें!
ले लें झूलें अहा पवन संग,
घर हम भी लौटें॥

मैंने माफ़ी माँगने के स्वर में कहा – 'तू भूखा है यह तो मैं भूल ही गई थी।'

'अच्छी गृहिणी बनोगी! एक बार आया हुआ अतिथि दुबारा तुम्हारे दरवाज़े नहीं आएगा!'

इतने में दादा एक हाथ में एक लालटेन और दूसरे हाथ में एक छोटासा डिब्बा और पानी का बर्तन ले आए। उन्होंने डिब्बा खोलकर रक्खा तब चंद्रकांत गदगद हो गया।

दादा ने कहा – 'पहले थोड़ा खाओ तुम! बाद में फिर बोलेंगे हम!'

'आप भी लें थोड़ा!'

'हमने खूब पेट भर खाया है अच्छा!'

'परन्तु यह तो चाँदनी में का खाना है! इसमें पंक्तिभेद कैसे चलेगा?'

उसके आग्रह के कारण हमने भी थोड़ा खाया। उसका पानी पीना समाप्त होने पर दादा ने पूछा–'क्या करने वाला है तू आगे?'

'मिल में मज़दूर बनूँगा!'

'ब्राह्मण का लड़का और —'

'ब्राह्मण नहीं है वह अभी। मराठा है। क्यों, है न शिरोड़कर?' मैंने हँसते हुए कहा।

'और ब्राह्मण होता भी तो मज़दूरी करने में क्या नुक़सान है? दादा साहब, एक मानी में तुम भी मज़दूर ही नहीं हो क्या? महीने में तीस रुपये लेना और —'

'परन्तु मिल की मिहनत तुम से झिलेगी?'

'मज़दूरों के बच्चे और औरतें भी वहाँ मिहनत करते हैं। तब मुझ जैसे पुरुष को क्या होगा? हम सब अगर मज़दूर बन सके तो आज के सब दुनिया के दुख, चुकटी बजते ही कम हो सकते हैं —'

'सब ही मज़दूर बन गए तो मालिक कौन बनेगा?' मैंने परिहास के स्वर में पूछा।

'मर्जी मालिक बनेंगे। वही मजदूर, वही मालिक।' उसने गंभीरता से उत्तर दिया।

मुझे उसकी बात पूरी तरह से समझ में नहीं आई। मन में इतना ज़रूर आया की असहयोग, मुल्सी सत्याग्रह, शांति-निकेतन, षड्यंत्रकारियों का षड्-यंत्र – इतने सब स्वांग हुए इनके आज तक। अब यह कोई नया स्वांग दिखाई देता है इनका।

'परन्तु बंबई में तुम्हें धोखा नहीं होगा? किसी ने पहचाना तो –'

'मिल में आकर कौन खोजेगा मुझे? और कौआ बनकर सौ बरस जीने की अपेक्षा गरुड़ बनकर एक बरस में मरना क्या बुरा है?'

'यह गरुड़ कब कहाँ का अमृत लेकर आएगा?' मैंने हँसी में कहा। परन्तु चंद्रकान्त विचार में निमग्न हो गया था। उसने उसका उत्तर कुछ नहीं दिया।

घर आने पर उसे बाहर के कमरे में सुलाकर दादा ने उसे ताला लगा दिया। दरवाज़ा लगाते हुए मैंने कहा–'यह जेल की रिहर्सल चल रही है।'

२१

लिखित गवाही होने पर मौखिक साक्ष्य की चिन्ता न्यायाधीश नहीं करता। मेरा भी वैसा ही करना अधिक उचित है न?

चंद्रकांत बंबई गया उसके पाँच छः दिन बाद ही माणिकराव का पत्र आया–

'प्रिय उल्का,

तुम्हारा और दादा साहब का पत्र लेकर आए हुए शिरोड़कर परसों ही मिले! हमारी मिल में उन्हें काम दे रहा हूँ। 'क्लर्क का काम करो चाहे तो।' ऐसा मैंने उन्हें सुझाया परंतु वह उन्हें पसंद

नहीं था। 'हम जाति से मराठा हैं; खेती के और बाग के काम पीढ़ियों से करते आए हुए परिवार में से हैं' ऐसा अभिमान होगा तुम्हारे इस मास्टर को। परंतु कपड़े की मिल में आदमी का कैसे आटा बनाया जाता है, यह जल्दी ही उसे पता चल जायगा। शाला में कुर्सी पर बैठकर बारह का पहाड़ा सिखाना एक बात है, और बारह बजे तक यंत्रों की घर्राट में और मिल की आग में खड़े रहकर मेहनत करना दूसरी बात है! थोड़ा भी ध्यान चुका कि जान पर बीती! हज़रत महीने भर बाद रोते कराहते आएँगे मेरे पास, और क्या?

उल्का, इतने जल्दी तुम्हें आनन्द देने वाली यह बात मैं कर सका इसे मैं अपना भाग्य समझता हूँ। तुम्हारी मुझे प्रतिदिन कितनी याद आती है यह यदि कहूँ तो तुम कहोगी– 'फिर मिल का काम करते भी कब हो? काम की ओर यों उपेक्षा की तो नौकरी भी जायगी कल!' नौकरी न करने वाले आदमी से विवाह करने को कोई भी लड़की सहसा उद्यत न होगी। तब मैं लिखता ही नहीं वह बात।

हमारी मिल सवेरे से शाम तक चलती रहती है। परन्तु तुम्हारे संबंधी विचारों की मिल (मधुर कोमल शब्द सूझने के लिए मैं कोई कवि नहीं। मेरे इस गँवार शब्द के लिए क्षमा करो।) अखंड चलती रहती है। आठ प्रहर चलने वाली इस मिल में घरघराहट ज़रा भी नहीं है। मन के इस मिल में तैयार होने वाला माल कितना नरम, नाज़ुक और सुंदर है कहूँ? परन्तु वह कुछ बेंचना नहीं है। तुम्हारी अकेले की मिल्कियत है उस पर। 'ये इतने सुंदर वस्त्र पहिनकर होगा भी कैसे?' ऐसा तुम मुझे प्रश्न पूछोगी। उसका भी उत्तर है मेरे पास। प्रति क्षण को तुम्हारी मूर्ति मेरी आँखों के सामने नाचती रहती है! वही वही वेष देखकर ऊब न

आते इसलिए उस मूर्ति को प्रत्येक क्षण नया वस्त्र नहीं चाहिए क्या ?

मैं सिनेमा रोज़ देखता हूँ । उसमें नायक नायिकाओं की एक दूसरे के लिए चलने वाली भागदौड़ देखकर मुझे लगता है मैं कितना सुखी हूँ ! मेरा स्वर्ग मुझे कितना सहज मिला ! परन्तु अंत में वह एक दूसरे को चूमते हैं, तब मुझे उनसे ईर्ष्या होती है । मलबार हिल पर अथवा महालक्ष्मी पर घूमने जाने पर भी मुझे कैसे अकेला अकेलापन जान पड़ता है । '– पुरुष अंकगणित के अपूर्णांक की भाँति है । स्त्री के साथ वह पूर्णांक बनता है । ' ऐसा श्लेष मैंने कहीं पढ़ा था । उसका रहस्य अब मेरी समझ में आता है । प्यास लगे बिना ठंडे पानी की मिठास नहीं समझ में आती यही सच है ।

तुम कहोगी– ' इतना यदि अकेलापन बुरा लगता हो तो क्या पंचांग में मुहूर्त नहीं है ? या भूचाल आकर व्यंकोबा का पर्वत धरती के पेट में समा गया है ? (यदि मुहूर्त न हो तो विवाह व्यंकोबा के पर्वत पर करना चाहिए ऐसा विश्वास है ।) या बंबई के विवाह विधि चलाने वाले मंगलाष्टक (विवाह का आवश्यक अंग मंगल-मंत्र) भूल गए – क्या, हुआ भी क्या ऐसा ? माँ को बीच में मध्यस्थ बनाकर पिता की अनुमति प्राप्त करने का यत्न कर रहा हूँ मैं ! फ़िज़ूल ज़रा से के लिए उन्हें अप्रसन्न क्यों किया जाय ? मैं कोई ' पितृदेवो भव ' कहकर चुप बैठने वाला आदमी नहीं हूँ । परन्तु पिता को देवता नहीं, आदमी तो मानना ही पड़ेगा । क्यों, सच है न ? हाँ, तो विवाह स्थगित हो रहा है यह देखकर तुम्हें मुझ पर क्रोध आ रहा होगा । परन्तु Marry in haste ऐसा उपदेश आज तक किसी ने किया है ? तुम साहित्य–सागर में की बड़ी मछली हो इसलिए

पूछता हूँ। इसके साथ ही सगाई और विवाह के बीच में बीतने वाला समय कितना सुखद होता है। पँक्तियाँ बराबर याद नहीं आ रही है। परन्तु कालिदास ने, वस्तु की प्राप्ति की अपेक्षा उसके लिए उत्कंठा में ही अधिक आनंद होता है ऐसा कहा है न? अगले पत्र में वे पंक्तियाँ मुझे याद करके ज़रूर लिख भेजना।

तुम नियम से समुद्र पर घूमने जाती हो यह जब से सुना, मैं भी कहीं न कहीं समुद्र पर जाता हूँ। पानी में सहज हाथ हिलाने पर छोटे छोटे तरंग उठते हैं। मुझे लगता है मेरा हस्तस्पर्श तुम्हारे पास पहुँचाने के लिए ही वे यहाँ से निकलते हैं। वह उस हस्तस्पर्श को तरंगों के आँचल में डालते हैं। ये तरंगें दूसरे तरंगों के हवाले उन्हें करती हैं और अन्त में तुम जहाँ खड़ी हो उस स्थान तक की तरंगों तक वह आती है। सचमुच उल्का, क्या आजकल किसी तरंग का स्पर्श दूसरों से अधिक सुखकारक तुम्हें लगता है?

कितना पागल हूँ मैं। परन्तु प्रेम पागल होता ही है। इस पागल प्रेम को पागलों को छोड़ दूसरों की संगति में कैसा आनन्द होगा? प्रेम का और काव्य का इतना निकट संबंध होने का कारण यही है! है न?

सर्वथा तुम्हारा

माणिक।'

इस पत्र के बाद एक दो महीने मैं बिल्कुल सुख-शिखर पर थी। उस पत्र के ही नहीं परन्तु माणिकराव के सभी पत्रों के मैंने कितने पारायण किए इसकी कोई गिनती नहीं। चंद्रकान्त के पत्र उस हिसाब से बहुत रूखे लगते थे। कहीं मज़दूरों की 'चाल' का वर्णन, कभी उनकी स्त्रियों और बच्चों के कष्टों का चित्रण, ऐसा ही कुछ सा उन पत्रों में रहता। वह पत्र पढ़कर मुझे संदेह

होता । इस व्यक्ति पर कल्पना जैसी भावुक बंगाली तरुणी को प्रेम कैसे हुआ । क्या यह भी सच हो सकता है ?

दादा शाला के बारे में थोड़े उदासीन ही दिखाई देते थे । 'बनाने गए गजानन और बन गए हनुमान !' इस उनके एक वाक्य से उनकी उस समय की मनःस्थिति का मुझे पता चल गया ।

माँ को गोआ में से आने पर जो बुखार आने लगा सो सदा आता ही रहा । दादा औषध देते, परन्तु वह लेने की उसे मन से ऊब आती । वह कहती थी–'मेरा क्या ? उल्का का ब्याह होगा अब चार महीने में ! विवाह की वेदी पर दोनों को एक बार देख लिया कि सुख से आँखें मूँद लूँगी !'

●●●

इसके दो ढाई महीने के बाद, एक ही दिन इंदु और चंद्रकांत की चिठ्ठियाँ आईं । चंद्रकांत का क्या, हमेशा वही मज़दूरों का रोना चलता था ! इसीलिए मैंने इंदु की चिठ्ठी पहिली खोली ।

'प्रिय उल्का बहन,

कितने कितने दिनों से मैंने तुम्हें नहीं लिखा। तुमने मन में कहा होगा 'इंदु को कहाँ मेरी याद आती है ? वह अब हो गई है बंबई वाली ।' यह बंबई है भी ऐसी ही मोहमयी! काम करने वाले आदमी को 'खाने को फुरसत नहीं मिलती यहाँ !' जल्दी से आकर जाने वाले आदमी को 'बिल्कुल घोड़े पर सवार हो जी !' ऐसा अपने यहाँ पूछते हैं । परन्तु उसका कुछ उपयोग नहीं है यहाँ । बिल्कुल विमान में बैठकर आए हो !' ऐसा पूछना चाहिए यहाँ !

बहुत लम्बा पुराण नहीं कहती बैठती । परन्तु पिछले ही मास की कहानी सुनाती हूँ । मज़दूर शराब में पैसा उड़ाते हैं, पत्नी और बच्चों को पीटते हैं और दाम्पत्य–जीवन की धूल उडाते हैं । वे शाम को शराबखाने की ओर न जायँ, इसलिए उनकी बस्ती में एक

सुंदर वाचनालय खोलने का हमने निश्चय किया है। शराब के बदले विद्यामृत पिलाने से उनका जीवन सहज सुखमय होगा, है न ? उस वाचनालय के लिए एक नाटक कंपनी का खेल हमने लिया था। अच्छा ढाई हज़ार का लाभ हुआ खेल में। परन्तु टिकट बेचने में हमें बहुत मिहनत करनी पड़ी। हमारे कॉलेज के एक अच्छे मोटी तनखा वाले प्रोफ़ेसर। परन्तु जब उन्हें पाँच रुपये का एक टिकट हम देने लगे, तो बोले — 'क्यों बाँधते हो यह पत्थर मेरे गले में ?' पाँच रुपये से जैसे वह डूब ही जाने वाला हो ! दूसरे एक इतिहास के प्रोफ़ेसर बोले – 'फंड बहुत हुआ; अब कुछ उद्दंड बनो और प्रचंड विप्लव लाओ।'

ऐसी सारी जल्दी जल्दी में चिट्ठी लिखने की फुरसत कहाँ से मिलती ? वाचनालय अभी अभी स्थापित हुआ है। अखबारों में पढ़ा ही होगा तुमने। हमारे कोंकन के मज़दूरों में से बहुतों को अक्षर की पहचान होती है। एक बार उनका मन पढ़ने में रंगा कि फिर उन्हें कभी याद भी नहीं आएगी शराब की।

मेरे पिता अभी अभी एक मिल के साथीदार बने हैं। बाप मालिकों का नेता और लड़की मज़दूरों से सहानुभूति रखनेवाली ! बड़ा मज़ेदार होगा यह नाटक क्यों ? मज़दूरों और मालिकों की लड़ाई शुरू होने पर मालिक कहेंगे – हमसे समझौते की बातचीत करने का अधिकार-पत्र देकर एक व्यक्ति भेजो ! तब मैं बाबा के बंगले पर आऊँगी। परंतु उनकी लड़की के नाते नहीं ! मज़दूरों की नेता के नाते !

हाँ, और भी एक बात लिखने की रह ही गई। Platonic Love पर तुम्हें विश्वास है क्या ? मुझे तो दुनिया में वैसा प्रेम होता है ऐसा विश्वास होने लगा है। स्त्री-पुरुषों का प्रेम शारीरिक होना

ही चाहिए ऐसा कहीं शास्त्र है क्या ? पृथ्वी पर सूर्य का आकर्षण होता है न ? वैसा ही किसी स्त्री को पुरुष का और पुरुष को स्त्री का क्यों न हो ?

परसों की बात है। बाबा के पास एक आदमी आए थे मिल के किसी काम से। नाम मैं जानबूझ कर नहीं लिखती। नहीं तो तुम झट से एक दोहा बनाकर लिख भेजोगी। अच्छे खासे पढ़े लिखे, इंग्लैंड से लौटे हुए सज्जन हैं। वेतन– वह सुनने पर तुम कहोगी–' इंदु बहिन, प्लेटो नहीं; पैसा है यह। ' रूप– पर जाने दो वह बात ! बाबा ने सहज हमारा परिचय करा दिया ! परन्तु चार दिन में हमारे मन इतने एकाकार हो गए कि जैसे हमारी पूर्वजन्म की पहचान हो। बोलचाल के लिए ऐसे साथी होने से बहुत सुख होता है। सवेरे कॉलेज का अध्ययन, दोपहर को प्रोफेसरों का वह रोना गाना ! शाम को मज़दूरों की बस्ती में समाज सेवा का काम – जी बिल्कुल ऊब जाता है। ऐसे समय मुझे लगता है कि खेल की वृत्ति में मुझ से बोलने वाला कोई हो ! वे और मैं कल सिनेमा गए थे। उन्होंने मुझ से कहा ' तुम्हारे बाल बहुत सुंदर हैं। नटी क्यों नहीं बनती तुम ? '

मुझे उनका बोलना न जाने कैसा लगा। परन्तु यह सूचना करने में उनका हेतु कितना स्तुत्य था। वाचनालय के लिए दो हज़ार रुपये मिलाने के लिए कितने आदमियों के पैर पकड़ने पड़े मुझे। उससे तो नटी बनकर खुद के पगार का उपयोग मज़दूरों के लिए करना क्या बुरा है ? परन्तु वह भी अब संभव नहीं । लोग हँसेंगे इसका डर नहीं है मुझे ! परन्तु इस दृष्टि से बचपन से कोई तैयारी होनी चाहिए न !

उल्का बहिन, मैं यहाँ शहर में कर रही हूँ वैसा कुछ देहात में जा कर करो न। कुरवाड़ी की औरतों को सिखाओ, उन्हें सफाई का महत्त्व समझाकर बताओ। चुपचाप मत बैठी रहो ऐसी! करो, कुछ न कुछ करती रहो!'

तुम्हारी सहेली

कु. इंदु

पुनश्च—कु. शब्द जानबूझ कर लिख रही हूँ।'

इंदु के शुद्ध प्रेम (Platonic Love) पर मुझे हँसी आ गई। 'उस आदमी का और इंदु का चार महीने में विवाह न हुआ तो मेरा नाम उल्का बदल दूँगी मैं!' ऐसा मन में कहते हुए मैंने चन्द्रकान्त का लिफाफा खोला।

'प्रिय उल्का बहिन,

मेरे पिछले पत्र में हमारी मिल का मैंने पूरा लम्बा चौड़ा वर्णन दिया था। आज मजदूरों के जीवनक्रम के विषय में कुछ लिखता हूँ। तुम्हें यह शायद ऊबा देने वाला जान पड़ेगा यह सच है। परन्तु अपने जैसे ही आदमी जिस घूड़े में पूरा जीवन बिताते हैं, उसका चित्र देखकर गर्दन मोड़ लेने इतना तुम्हारा मन मरा नहीं है।

बहिन, मजदूरों की बस्ती में उनके रहने के कमरे देखने पर कारून में जानवरों को बाँधने के कमरे अधिक अच्छे हैं ऐसा तुम्हें लगेगा। न ठीक से हवा न सूर्यप्रकाश। ऐसे दड़बों में कितने आदमी रहते हैं यह तुम्हें क्या बताऊँ? कलकत्ते में जो काली कोठरी हुई थी वह सच होगा झूट हो; यहाँ के रहते हुए मजदूर का घर सवाई ब्लैक होल है। आदमी जैसे आदमी! परन्तु उनका गृह-जीवन देखकर जान पड़ता है कि इससे तो बच्चों के खेल का घर कहीं बेहतर होता है। इस कोने में पाकशाला, दूसरे कोने में स्नान-गृह, तीसरे कोने में बच्चे का कमरा,

चौथे कोने में भंडार – और कोने ही नहीं होते, तब बची खुची सब बातें बीच में ! ऐसे कमरे का इतना अधिक किराया होता है कि कभी कभी तीन तीन परिवार एक ही कमरे में रहते हैं। मज़दूरों को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वृत्ति सिखाने के लिए ही पूँजीवादी मिल मालिक इन बातों को खुली आँखों से देखते रहते हैं। इन कमरों की निंदा, विश्वबंधुत्त्व के उच्च दर्शन की निन्दा करना है ! तब यह वर्णन मैं यहीं समाप्त करता हूँ।

कहीं की नाटक मंडली का खेल लेकर परसों ही मज़दूरों के लिए वाचनालय खोला है कुछ लोगों ने। वह इंदु—अपनी जी. आई. पी. आर.—मेंढकों पर पत्थर बरसाने वाली लड़की—वह भी इन लोगों में बीच बीच में टाँग अड़ाया करती है। मज़दूरों को सुधारने वाले हैं ये लोग ! सिर पर कोलन वाटर की पट्टियाँ रखने से क्षय का बुख़ार कभी नष्ट होगा क्या ? इन्हें लगता है, मज़दूर शाम को शराबखाने की ओर भागते हैं, वाचनालय खोलने पर शराबखाना एकदम सूना हो जायगा !

परन्तु मज़दूर शराब जो पीते हैं वह क्या मौज के लिए पीते हैं ? वह काम तो अमीर करें ! दिन भर मिल में पिसने के बाद आदमी कितना थक जाता है ! अनुभव के बिना यह नहीं समझ में आवेगा उल्का बहिन। बच्चे का दुख जैसे पुरुष नहीं समझ सकते, उसी तरह से पेट की आग बुझाने के लिए खून का पानी करने वाले मज़दूरों की मुश्किल कुर्सी पर बैठकर कलम चलाने वाले आदमी की समझ में ही नहीं आवेगी ! मज़दूरों की शराब बंद करनी हो तो एक उपाय है उस पर। उनका काम कम करो। उनकी शिक्षा और वेतन बढ़ाओ।—सिर्फ वाचनालय खोलकर और खुद का नाम समाचार पत्रों में विज्ञापित करके यह प्रश्न नहीं हल होगा। मज़दूरों में जो

व्यसन है उनका बहुत ' हौआ ' करने वाले लोगों को मैं पूछूँगा—उन बेचारों के व्यसनों के लिए कुछ अच्छे बुरे कारण तो हैं। परन्तु तुम सफ़ेद-पोश पैसेवाले लोग, तुम में व्यसनों की कहाँ कमी है ? मज़दूर ताड़ी माड़ी पीते हैं। तुम ब्रँडी पीते हो ! उनमें स्त्री-पुरुषों के मामले होते हैं। तुम तो खुले आम वेश्याओं को पोसते हो ! सत्य-नारायण करने से परमात्मा हम पर प्रसन्न होगा इसलिए वह गाँठ के दो पैसे खर्च करते हैं ! तुम मंदिर बाँधते हो— लघुरुद्र—महारुद्र के यज्ञ करते हो—तीर्थ यात्रा में पैसे नष्ट करते हो और नाम—सप्ताह में नाचते रहते हो ! '

उल्का बहिन, बंबई का यह काला पहलू है ! परन्तु बंबई कितनी बड़ी है ! बंबई में हवादार बंगले हैं, सिनेमा-नाटक हैं, उत्तम उपहार गृह हैं, सब कुछ है। परन्तु वह सब किसके लिए ? सवेरे से शाम तक मरने वाले ग़रीब के लिए ? ना, ना ! सवेरे से शामतक रमने वाले अमीर के लिए है ! '

पैसा ! पैसे से आदमी खरीदे जा सकते हैं ! सिर्फ़ आदमी ही नहीं उनकी मनुष्यता भी पैसा खरीद लेता है ! प्रत्येक मनुष्यप्राणी के कुछ जन्मसिद्ध अधिकार होते हैं न ? परन्तु यह हक़ ही इस पैसे ने नष्ट कर डाले हैं। शिक्षण, आरोग्य, अन्न, घर— इन पर अधिकार किन का होगा ? उसके लिए शरीर अथवा बुद्धि खर्च करने वालों का, या बड़े बाप के बेटे जो हैं ऐसे पूँजीवादियों का !

उस दिन पहाड़िया पर तिलक, गोखले—गांधी सब के मार्ग ग़लत हैं क्या इस बारे में हमने चर्चा की थी। उनके मार्ग ग़लत हैं यह मैं नहीं कहता परन्तु वे चौड़े, बहुत चौड़े बनने चाहिए ! तिलक-गोखले का जीवन राजनीति में बीता। गांधी दरिद्रीनारायण की लक्ष्मी से गाँठ जोडने के यत्न में लगे हैं। परन्तु क्षीर-सागर में, रत्न-मंदिर

में सोया शेषशाई विष्णु लक्ष्मी को इतनी सहजता से अपने हाथों से जाने नहीं देगा। इतना पागल नहीं है वह! महात्माजी को लगता है—पहले समुद्र ही नष्ट करना चाहिए। परन्तु उसे पी जाने वाला अगस्ति कहाँ है?

स्वर्ग और नरक एक दूसरे से सटे रहते हैं ऐसी हमारे पुराणों में कल्पना है। बंबई—बंबई ही क्या, हमारे समाज में सर्वत्र यही दृश्य दिखाई देगा। पुश्तैनी अमीरी के स्वर्ग में रमण करने वाले देवता—अमृत पीना, अप्सराओं के नृत्यगान में मस्त रहना और कुछ ज़रूरत लगी तो कल्पवृक्ष के नीचे जा बैठना, इतना ही उनका काम है! परंतु इस ग़रीबी के नरक में मरने वाले आदमी की ओर देखने पर कहना पड़ता है कि उसका काम है सिर्फ़ सहना, सजा भुगतना। यम धर्म के नरक की सजा पाने के लिए और कुछ करने की ज़रूरत नहीं। ग़रीब माँ बाप के पेट से जन्म लेना ही इस भयानक सज़ा की शुरुआत के लिए काफ़ी है!

इंदु से मैं मिला नहीं। जयवंत शिरोड़कर और उसकी पहचान है भी कहाँ?

मेरे कमरें में उधर के कोंकन के तीन चार मज़दूर हैं। एक उधर का, आंबेगांव का है! अपने मालिक को ज़मीन का लगान देने के लिए वह यहाँ से घर पर अपने भाई को पैसे भेजता रहता है!

मैं सकुशल हूँ। मैं सुख में क्यों हूँ, मैं नहीं बता सकता। साथ में 'मंगलौर के कवेलू' भेज रहा हूँ। वह पढ़ लेना। उनसे शायद जो मैं कह नहीं पाता वह समझ में आ जायगा।

हाँ, भूल ही गया! ब्राह्मण को लड्डुओं की याद बहुत पक्की रहती है। मेरे जैसे मराठे को वह कहाँ से रहेगी? शादी के लड्डू कब मिलेंगे हमें? फिर क्या? उल्का बहिन माणिकराव के साथ ही

मोटर में बैठकर मिल में आवेगी और हमारा राम राम लेगी।

तुम्हारा बंधु,
जयवंत।'

खत पढ़कर मैंने 'मंगलौर के कवेलू' कहानी पढ़ी।

मंगलौरी कवेलू

१

नया बंगला बन चुका।

उसके मंगलौर के कवेलू कितने लाल और सुंदर दिखाई दे रहे थे।

शाम को फिर वापिस आते समय दूर से बंगला दिखाई देने लगने पर मेरी दृष्टि उन कवेलुओं पर अटक जाती!

प्रेम का रंग लाल होता है ऐसा कहते हैं।

आसपास के सारे घर के कवेलू काले से दिखाई देते थे।

मेरे बंगले के कवेलू भी। जग से अलिप्त रहनेवाले साधु के अथवा कवि के मन से ही मानो वे बने हों।

कितने दिन तक वह दृष्टि के सामने दिखाई देने पर आँखों का मानो उपवास छूट जाता।

२

दो तीन वर्षाकाल बीत गए।

दो बरस बाद मैं गाँव से वापिस आ रहा था।

मंदिर दिखाई दिया। पीपल आया, नारियल पीछे रह गया। थोड़ा आगे जाने पर मुझे अपने बंगले के लाल कवेलू दिखाई देंगे।

मैं दौड़कर आगे बढ़ा।

आँखें फाड़फाड़कर देखा परन्तु लाल कवेलू कहीं दिखाई नहीं

दिए। मेरी दृष्टि मंद तो नहीं हुई ऐसी शंका मेरे मन में आ गई।

यही वह बंगला है। नज़र झट से ऊपर गई। निराश होकर वह एकदम नीचे आई।

वह लाल कवेलू कालापन लिए हुए थे।

दूसरे पुराने बंगलों की तरह मेरा बंगला भी दिखाई देने लगा।

किसी मृदु-मंजुल नाद से मेरी दृष्टि कोने की तरफ़ गई। एक कबूतर वहाँ बड़ी अकड़ से बैठा था। कितना सफ़ेद रंग था उसका। मानो किसी बालक का हृदय ही हो! उस कबूतर की ओर देखते देखते मैं उन पुराने, रंग उड़े कवेलुओं का दुखड़ा भूल गया।

दूसरे दिन सवेरे टहलकर लौटा तो बंगला दूर से ही दिखाई दिया।

लाल मंगलौरी कवेलू—

कबूतर कोने पर ही होगा क्या?

फाटक में से देखा। कबूतर किसी गायक की भाँति अकड़ से छाती फुलाए 'गटर गूँ' कर रहा था। उसकी गटरगूँ का अर्थ मेरी समझ में नहीं आया। परंतु वह सुनकर मेरे मन का समाधान अवश्य हुआ।'

●●●

चद्रकांत के ये कवेलू पढ़ते ही मुझे पुरानी लकड़ी की गुड़िया की याद आ गई। मंद सुगंध आ रही हो, परंतु वह किसकी है यह जान पड़ने से पहले ही नष्ट हो जाय ऐसा कुछ उसके कवेलू पढ़कर मुझे लगा।

चंद्रकांत का पत्र देखकर मैंने मन में निश्चय किया कि विवाह होकर बंबई जाते ही माणिकराव से कहकर मजदूरों की स्थिति सुधारने का पूरा प्रयत्न करूँगी। दादा ने आजन्म देहात में स्कूल चलाया। मैं शहर में मजदूरों का सुधार करूँगी।

मज़दूरों के सम्बन्ध में साहित्य जब मँगवाकर पढ़ने लगी तो दादा ने कहा भी— 'यह आगे की तैयारी चल रही है शायद।

'ग्रीष्म में ही वर्षा की तैयारी हम नहीं कर रखते ?'

वर्षा ! दुर्दिन ! मेरे जीवन में वे दिन ! वर्षा के सिवा और कौनसी उपमा दी जा सकती है उन्हें !

● ● ●

इन पत्रों को आए तीन चार महीने बीत गए। माणिकराव की चिठ्ठियाँ बीच बीच में आती थीं। परंतु पहिले की अपेक्षा ये बहुत छोटी हुआ करती थीं। 'मिल का काम बहुत होता है' ऐसा वे लिखते। मुझे भी वह क्यों झूठ लगता ? 'पिता की अनुमति अभी मिली नहीं' यह तो उनके पत्र का तकि-याकलाम था। पिता की अनुमति मिलने तक—यानी उनकी मृत्यु तक—हमारा विवाह शायद स्थगित होता रहेगा ऐसी शंका मेरे मन में आती। दादा ने अन्ना साहब को उस बीच में पत्र भेजा था। उन्होंने 'जल्दी मत करो, माणिकराव सच्चा आदमी है' यह उत्तर भेजा था। फिर आगे क्या करना है। मेरी मनःस्थिति विचित्र होने लगी। वसंत, माणिकराव — न जाने क्या क्या मन में आने लगा।

एक दिन डाक से चंद्रकांत और माणिकराव की चिठ्ठियाँ आईं। माणि-कराव के पत्र पर 'अर्जेंट' ऐसा लाल स्याही से लिखा था। वह पढ़ते ही माणिकराव के पिता ने अनुमति दी, विवाह निश्चित हुआ ऐसा, भागकर माँ से जाकर कहने की इच्छा मन में हुई। वह लाल स्याही मुझे कुंकुम-तिलक सी, मांग के सिंदूर सी मंगल लगी। पागल मन !

मैंने पत्र खोला।

'कुमारी उल्का बहिन को नमस्कार। विनंति विशेष।'

यह क्या वाग्दत्ता वधू को लिखने का सरनामा था। इतना गुस्सा भी काहे का आया है इन्हें !

मैं आगे पढ़ने लगी।

'तुमसे विवाह करने का मेरा विचार दुर्भाग्य से मुझे बदलना पड़ रहा है !'

जिस हाथ से माणिकराव ने मेरे हाथ में अंगूठी पहनाई, उसी हाथ से उन्होंने ये अक्षर लिखे थे क्या ?

'यह लग्न कर के मैं फँसनेवाला था।'

कामाक्षी के सरोवर पर चाँदनी रात को मेरी ओर जिस नज़र से उन्होंने देखा, उसे यह अक्षर सहन भी कैसे हुए ?

'इंग्लैंड से सीखकर आए और मिल में अधिकारी के स्थान पर होकर मुझ जैसे आदमी का गैरज़िम्मेदार स्त्री से विवाह कर लेना घातक है। वाङ्निश्चय गुप्त रखने के लिए मैंने बहुत डाँट कर आप लोगों से कहा था। परंतु वह आप न रख सके। जयवंत शिरोड़कर, एक साधारण मराठा मज़दूर, तुम्हारे पहचान का है इसलिए मैंने उसे मिल में नौकरी दी। परंतु वह अकृतज्ञ निकला और आप भी !

आप को किन शब्दों में और क्या कहूँ यही समझ में नहीं आता। समाजसुधार के उच्च उद्देश्य से मैंने तुमसे विवाह करने का निश्चय किया था। परंतु समाज-सुधार का अर्थ कोई पागल बोझा गले बाँध लेना नहीं है। उस जयवंत को तुम्हारा विवाह मुझसे निश्चित हुआ यह बात कैसे जान पड़ी ? यह बात गुप्त रखने के लिए मैंने तुम्हारे पिता को और तुम्हें बार बार याद दिलाकर कही थी न ! उस जयवंत ने मेरे दो चार प्रसिद्ध प्रतिष्ठित मित्रों के आगे पूछा — वह एक मूर्ख, और—

अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। तुम या तुम्हारे पिता के पत्र लिखने का कोई उपयोग नहीं होगा। ईश्वर ने मेरी ग़लती मुझे पहले ही बता दी इसलिए मैं उसका कृतज्ञ हूँ।

आपका नम्र

माणिकराव।'

यह मज़मून पढ़कर मैं बेहोश कैसे न हुई इसी का अचरज मुझे जान

पड़ा। हरेक वाक्य पढ़ते हुए बिजली टूटकर सिर पर गिरने का आभास हुआ।

पत्र समाप्त होते ही मैंने वह फेंक दिया। एक क्षण पहले मैं फूलों की राशि पर नाच रही थी। अब अंगारे — इधर उधर सब ओर अंगारे—सर्वांग की जैसे आग हो रही थी।

चंद्रकांत कितना मूर्ख! यह बात उसने माणिकराव से पूछी ही क्यों?

इतने में लगा — वह एक मूर्ख! परंतु माणिकराव?

उसके मित्रों को इस विवाह की बात की सूचना हो भी गई तो उससे ऐसा कौन सा नुकसान उनका होने वाला था? कामाक्षी के सरोवर पर चंद्रकांत ने मध्यरात्रि को हम दोनों को देखा जो था। वह सब अपराध मेरा ही था क्या? चंद्रकांत का पत्र वैसा ही पड़ा था। वह मैंने जल्दी जल्दी में उठाया और पढ़ा।

'प्रिय उल्का बहिन,

मेरे हाथ से कल एक भयानक ग़लती हुई। तुम मुझे उसके लिए माफ कर दोगी क्या?'

मेरे जीवन का सत्यानाश हो गया! अब कैसी क्षमा? यह चंद्रकांत पागल तो नहीं है कहीं?

'आजकल दो महीने से माणिकराव और इंदु की मित्रता बढ़ती जा रही है ऐसा मैं सुनता था। इंदु के पिता हमारी मिल के प्रमुख साझीदार हैं। माणिकराव का कामकाज के कारण उनकी ओर सदा जाना आना चलता रहता है। आजकल घूमने और सिनेमा में माणिकराव और इंदु साथ साथ ही जाते हैं। परंतु ऐसी बातों को अनावश्यक महत्त्व देने वाला मैं नहीं हूँ।

मेरे कमरे में आंबेगाँव का सगुण नाम का एक भंडारी (जाति विशेष) रहता है। उसकी कोई दूर की रिश्तेदार इंदु के घर नौकरानी

है ! वह अभी समाचार लाई है कि पिताजी की और लड़की की अभी अभी खूब लड़ाई हो गई है। विषय है विवाह !

पिताजी कहते 'वह क्या बामन !'

लड़की ने गुस्से से उत्तर दिया 'मैं ब्राह्मणी बनूँगी ! तुमने अनुमति न दी तो मैं भाग जाऊँगी घर से।'

अधिक पूछने पर माणिकराव और इंदु की अनेक प्रणय–चेष्टाएँ उस स्त्री ने वर्णित कीं। मुझे तिलमात्र संदेह नहीं रहा। माणिकराव पर ऐसा गुस्सा आया मुझे ! तुम्हें वचन देकर उधर झुला रखा है। और इधर वह भला आदमी इंदु से अपना ब्याह निश्चित कर रहा है। मुझे इस बात का अर्थ ही कुछ समझ में नहीं आया। आखिर एक युक्ति निकाली मैंने। दो तीन बड़े मित्रों से हज़रत बातचीत कर रहे थे तब मिलने गया था मैं।

'साहब, उल्का बहिन का पत्र आया है ?' मैंने पूछा।

वह मेरी ओर गुस्से से देखने लगा। नाटक की सुविधा के लिए मैंने काल्पनिक स्त्री का निर्माण किया ! मैंने कहा – मेरी पत्नी और उल्का बहिन दोनों हैं सहेलियाँ ! मेरी पत्नी ने पूछा–' उल्का बहिन का विवाह कब होगा ? पत्र भेजकर पूछो। कुछ उपहारादि की व्यवस्था जो करनी पड़ेगी।' मैंने कहा 'पत्र क्यों भेजना चाहिए ? साहब हैं ही यहाँ ! विवाह कोई अकेली उल्का बहिन का नहीं, साहब का भी है !'

माणिकराव के मित्र आश्चर्य से उसकी ओर देखते थे।

वह गुर्रा उठा—' कहाँ की है यह उल्का ? पागल तो नहीं हो गए तुम ? कौन है उधर ? धकिया कर इसे निकाल दो !'

मैं धक्के खाते हुए बाहर चला आया !

मेरे धक्के क्या निरे शारीरिक थे !

परंतु बहिन, तुम्हारा धक्का—तुम्हारे मन को कितना बड़ा धक्का पहुँचेगा ?

कवि कहते हैं प्रेम अमृत है ! वह अनुभव कितने भाग्यवानों को मिलता है ? मुझे लगता है, प्रेम मदिरा है —प्रेम विष है। मेरी उल्का बहन, मेरी शपथ है तुम्हें। तुम अपना कुछ भला बुरा न कर बैठना। पृथ्वी को बार बार भूकंप के धक्के सहने पड़ते हैं। परंतु प्राणि मात्र का पोषण करने का अपना व्रत उसने कभी छोड़ा है ?

तुम्हारा बंधु

जयवंत।'

२२

वह दिन कैसे बीता यह मैं आज भी नहीं कह सकती। मन कैसे तूफानी समुद्र की तरह हो गया था।

इस तूफान में जो कुछ आता, उसके टुकड़े टुकड़े हो जाते। माणिकराव, चंद्रकांत, इंदु, प्रेम, विवाह, आयु — सिर कैसे चक्कर काट रहा था। मुझे लगा, ऐसा विचार कर के अब मैं पागल बन जाऊँगी ! और माणिकराव जैसे आदमी जिस दुनिया में सयाने बनकर घूमते हैं, उसमें पागल भी बनना क्या बुरा है ?

माँ की आँखों का पानी दिन भर न थमा। आजकल उसे बीच बीच में बुखार आता था ! उसमें इस बात का और ईंधन पड़ा। दादा ने एक दो दिन विचार किया और मुझे बंबई ले जाने का निश्चय किया। अन्ना साहब वहाँ थे ही। माणिकराव से भेंट हो जाय और एक बार जो कुछ इस पार उस पार निर्णय हो जाय वह कर डालें ऐसा मुझे लगा।

जहाज़ जाने के लिए अभी कुछ दिन बाकी थे। अतः थल मार्ग से बेलगाँव पर से जाने का हमने निश्चय किया। वर्षा के अंत में अंबोली घाटी

की शोभा बड़ी ही सुंदर होती है। वर्षा के बीच में देखे दृश्य में अद्भुत रम्यता होती है, परंतु इस समय चारों ओर स्वाभाविक सौंदर्य विलसित होने लगता है। कोहरा होता है, परंतु इतना घना नहीं कि दो हाथ के पास की चीज़ दिखाई न दे। घाटी पर और पर्वत शिखरों पर वह नाजुक नीली चँवर डुलाते हुए वह दिखाई देता। इन दिनों में पर्वत पर से पानी के बड़े बड़े बाढ़ भरे प्रवाह नहीं दिखाई देते हैं। दूध पीकर तृप्त हुए बालक के मुख पर दूध की एकाध रेख जैसे दिखाई दे वैसे ही प्रत्येक चट्टान पर पानी के छोटे छोटे प्रवाह बहते रहते हैं। ज्येष्ठ-आषाढ़ में वर्षाकाल और पृथ्वी के मिलन में उन्मादक प्रणय का प्रतिबिंब होता है। परंतु भाद्रपद—आश्विन के आने पर उसका रूपान्तर शांत प्रेम में हुए बिना नहीं रहता।

उस दिन घाट में ऐसे विचार मेरे मन में न आ सके। मुझे लगा—वे पानी के प्रवाह धरणी के संबंधियों के अश्रु हैं। कामुक मन को शंका न आवे इसलिए विद्युत् के बहाने उसने प्रणय चेष्टाओं का प्रदर्शन किया था! धरणी का हृदय फूल उठा। परंतु आगे क्या? रंगीला वर्षाकाल अब उसे छोड़ गया। धरणी को अभी आशा जान पड़ती है। परंतु और एक दो महीने से आशा की भी यह हरियाली सूख जायगी, और——

क्या फ़ायदा है यह सब वर्णन करके? हम बेलगाँव स्टेशन पर समय से पहुँचे। साढ़े तीन की गाड़ी थी वह! दादा ने मुझे कष्ट न हो इसलिए उस दिन सेकंड क्लास के टिकट जानबूझ कर खरीदे। मैं ना ना कहती थी परन्तु वे नहीं माने।

'अभी नींद नहीं तुझे दो दिन से! और उस में यह जागरण और क्यों!' उन्होंने कहा; तब मेरा हृदय पिता के प्रति कैसा उमड़ आया।

हम जिस डिब्बे में बैठे थे, उसमें सिर्फ़ एक सज्जन थे। शरीर से साधारण स्थूल। उम्र चालीस के करीब। चेहरा फूला हुआ। नाक कुछ

चपटी। किंतु आँखें चमकीली। उन्होंने सिर को जो साफा बाँधा था उसमें उनके बैठने की अकड़ का भी कुछ ढंग प्रतिबिंबित था। उनके हाथ में रंगीन कवर का एक अंग्रेज़ी उपन्यास था, और उसके कुछ पृष्ठ उन्होंने पढ़े थे ऐसा जो निशान के लिए उस में रखी दाहिने हाथ की उँगलियों से ज़ाहिर था। हमारे डिब्बे में घुसते ही उसने बहुत गौर से हमारी ओर देखा। प्रवास के साधारण कुतूहल से कुछ अधिक उसकी दृष्टि में है ऐसा जानकर मैं गर्दन मोड़कर बाहर देखने लगी।

बाँईं कलाई पर की सोने की घड़ी की ओर देखकर वे बोले — 'पाँच मिनट बचे हैं गाड़ी छूटने के और अभी तक पता नहीं इनका!' उन्होंने झट से कहा — बाकी एस. एम. आर. की गाड़ी है यह! स्लो मोशन रेल्वे! एक बार इस गाड़ी की और बीरबहूटी की भागने में स्पर्धा हुई थी, जिस में बीरबहूटी अंततः विजयिनी हुई!'

दादा हँसे। मैं भी मुस्कुरा दी।

इतने में डिब्बे के दरवाज़े के पास एक आदमी चाय का प्याला लेकर आया। उसकी ओर दृष्टि जाते ही मैंने उसे पहचाना! निरा का पति! पति! प्याला उस सज्जन के हाथ में देकर वह खड़ा रहा। उस सज्जन ने दादा से पूछा — 'आप के लिए चाय लाऊँ?'

'अभी पी चुके हैं हम।'

'और एक बार। वन्स मोअर!'

'परन्तु 'वन्स मोअर' लेने के लिए हम बाल गंधर्व जैसे अभिनेता कहाँ हैं!' दादा ने हँसते हुए कहा।

वह सज्जन चाय पी रहे थे तब मैंने निरा के पति से पूछा 'तुम कहाँ यहाँ?'

'ये हमारे मालिक हैं।' ऐसा धीमे से कहकर उसने आँख के इशारे से वही सज्जन दिखाए।

उसके मालिक कहाँ जा रहे थे यह प्रश्न पूछना ठीक न जान पड़ा। कुछ तो भी बोलना चाहिए इसलिए मैंने पूछा 'निरा अच्छी है ?'

'हाँ।'

'बहुत दिनों से पीहर नहीं लौटी ?'

वह कुछ भी नहीं बोला।

'मत भेजो उसे पीहर तुम। मैं ही आऊँगी आंबेगाँव में कभी उससे मिलने !'

'आइए ! बुरा नहीं है हमारा गाँव। कैसी अच्छी नदी है पास ! इस ओर रियासत, उस ओर ब्रिटिश सरकार। नदी के उस पार की अमराई में एक खास तरह के आम की कलम अभी अभी अँकुरा रही है।'

'किस की कलम ?'

'धनी की !'

'हलवाई के माल पर मौज करना !' यह कहावत कहने का मेरा विचार था। परन्तु अकड़ से साफ़ा और सोने की घड़ी पहने बैठे आदमी को हलवाई कैसे कहा जाय ?

चाय का प्याला वापिस देते हुए वे सज्जन बोले 'अच्छा गाँव वालों ! अपने घर लौटो। परसों मैं वापिस आऊँगा तब आम्बेगाँव को आना। बाबा की बीमारी का कुछ ठिकाना नहीं। नहीं तो आज भी जाने दिया होता, मैंने तुम्हें। और माई को कहो, इस हफ्ते में आदमी बहुत आने वाले हैं। खाने पीने का बना रखना बहुत सा। हाँ, म्युनिसिपैलिटी के चुनाव जो हैं !'

गाँव वाले आंबेगाँवकर के हर एक वाक्य पर गर्दन हिला रहे थे। जब मंदिर में प्रसाद चढ़ाते हैं तब 'हाँ, जी, हाँ जी !' जैसे भक्तगण कहते हैं, वैसा ही मुझे जान पड़ा यह तमाशा। आख़िर ट्रेन ने सीटी बजाई और गाँववालों का राम राम सुनते सुनते हमने बेलगाँव छोड़ा।

आं-गांवकर का और दादा का बोलना मैं सुनती थी। परन्तु बीच बीच में मन कहीं दूसरी ही ओर लगा रहता। पत्नी की अस्थियाँ लेकर वे नरसोबा की वाड़ी (एक तीर्थस्थान) जा रहे थे। बेलगाँव की एक प्राइवेट शाला में वे अध्यापक थे। उनके पिता लकवे से बीमार थे! कलेक्टर के हेड क्लर्क के स्थान से उन्होंने पेन्शन लिया था। आंबेगांव में अच्छी दो तीन हज़ार की आय थी उनकी। क़रीब क़रीब समूचा गाँव उनका ही था। परन्तु उस देहात में रहना इनके जैसे पढ़े लिखे बाबू को कैसे पसंद हो? इसलिए सब लोग बेलगाँव के बंगले में ही रहते थे। पंडित उनका उपनाम था।

'आप कुडाल देशकर हैं या कायस्थ प्रभु हैं?' यह नाम सुनकर दादा ने पूछा।

'बारदेशकर!'

'मैं भी बारदेशकर ही हूँ!'

'यहाँ चाहिए जात के।' पंडित ने तुकाराम की उक्ति में उत्तर दिया। अनमनी स्थिति में भी मैं हँसी। उन्हें दादा ने अपनी हालत संक्षेप में बताई। मैं अविवाहित हूँ ऐसा सुनते ही पंडित ने कहा—'गाँव में रहकर कितने सुधार किए हैं तुमने। धन्य है भाई तुम्हारी! सिर्फ़ वसूली के लिए आंबेगांव में महीना भर रहना हो तो भी वहाँ जान पर आफ़त आती है! हर समय वही, कुरवाड़ी लोगों से वास्ता! सदा उनका रोना गाना सुनो—' 'धन्यानुं, पेजेक् गोटो नाय घरांत?' (मालिक साहब, सवेरे चावल उबालकर उसका पानी पीने को कौड़ी भी नहीं है।) मेरा तो क्षण भर वहाँ मन नहीं लगता। सभा-समारंभ, पाहुने और सार्वजनिक कामों के सिवा चाय पीने को फुरसत नहीं मिलती मुझे बेलगांव में! परन्तु आंबेगांव में एक एक दिन युग के समान जान पड़ता है। उस गँवार गाँव में मनोरंजन भी और कानसा है? हमारी मेनका का गाना सुना है आपने कभी? वहाँ आंबेगांव के मंदिर में झाड़ू देने वाली एक औरत है। लोग कहते हैं 'इस मंदिर के देवता जागृत हैं।' मैंने कहा 'इस चुड़ैल का रूप जब से देखा है तब से

देवता की नींद उड़ गई है। और जन्म भर जाग्रत ही रहेगा वह।'

पंडित हँसे; परन्तु दादा को उनका यह वाक्य सुनकर हँसी नहीं आई। दो तीन स्टेशन जाने के बाद दादा ने उनकी किताब सहज इधर उधर से पढ़ने के लिए हाथ में ली। दादा उसे देखकर ही लौटाने लगे, तो मेरी जिज्ञासा जाग्रत हुई। उसका नाम पढ़कर मैंने देखा; वह था—His Girl.

'उसकी प्रियतमा!' न जाने कैसा नाम लगा मुझे उस पुस्तक का! पुस्तक खोलकर मैंने बीच में से ही पढ़ना शुरू किया। एक पन्ना खोला न खोला तो क़िले पर का वसंत का, और सरोवर पर के माणिकराव का अति प्रसंग मुझे याद आया। उस उपन्यास में भी नायक नायिका की ऐसी ही प्रेम चेष्टाओं का वर्णन था। नायक नायिका नौका में बैठकर जा रहे थे। नायिका को कुछ अच्छी तरह नाव चलाना नहीं आता था। उसे सिखाने के लिए नायक उसका हाथ पकड़कर उसे सिखाने लगता है। नौका नीचे ऊपर होती रहती है। उसकी दृष्टि नौका के नीचे ऊपर होते समय, उसके नीचे ऊपर होने वाले वक्ष की ओर — जाने दो! उपन्यास के उन पृष्ठों का अनुवाद करने जैसा होगा वह!

मिरज स्टेशन पास आया तब पंडित दादा से कहने लगे—'वापिस जाते हुए, बेलगाँव से होते हुए आप हमारे घर आईए!'

'हम जहाज़ से वापिस जाने का सोच रहे हैं। इधर से आए तो आवेंगे ही!'

मिरज में उतरते समय मेरी ओर मुड़कर वे बोले— 'पहचान रखिए!'

रेल से बिदा होते समय ऐसे संभाषण सदा होते ही हैं। परन्तु उस संवाद की याद आने पर अब भी मुझे हँसी आती है। नियति रूपी नाटककार को ऐसे सूचक संभाषण से बहुत प्रेम है यही कहना अधिक सच होगा।

●●●

हम बंबई से आ रहे थे यह चंद्रकांत को हमने जानबूझ कर सूचित नहीं किया था। माणिकराव के पास उन्हें ले जाना दावानल में मिट्टी के तेल का कूँआ उँडेलने जैसा था! माधवाश्रम में हम ठहरे। वहाँ से अन्ना साहेब के पास दादा मिल आए। बेचारा ग़रीब इतिहास संशोधक! यह सब इतिहास सुनकर आश्चर्यचकित हो गया। माणिकराव ने एक अक्षर से भी इस बात का पता उन्हें नहीं लगने दिया था। रात के शांत समय हम सब माणिकराव के घर जाएँ ऐसा निश्चय हुआ।

दिन से भी अधिक रात को बंबई को गंधर्व-नगरी का रूप प्राप्त होता है। दिन को बंबई के जनजीवन पर सच्चा चित्र दृष्टिगत होता है। परंतु रात को विद्युत्प्रकाश में इस चित्र को रंगमंच की मोहकता मिली हो ऐसा भास होता है। अपनी बड़ी उम्र में बंबई में मैं पहली ही बार आई थी; तो भी इस सुंदर चित्र में मेरा मन नहीं रमा! हमारी बग्गी (बंबई में उसे विक्टोरिया कहते हैं) माणिकराव के घर की ओर जा रही थी तब रास्ते पर दिखने-वाले लोगों के समूह और बिजली के दीपक यह सब किसी स्मशान-यात्रा के हैं ऐसा मुझे लगा। 'प्रेम की प्रेत-यात्रा।' यह उस दृश्य के चित्र का हमने नाम रखा होता!

हमें देखते ही माणिकराव चौंके। दादा गुस्से में कुछ तो भी उत्तर भेजेंगे ऐसी उनकी कल्पना थी।

परन्तु थोड़ी ही देर में निर्दयता पूर्वक हँसकर वे बोले—'क्यों अन्ना साहब, यह परिषद किसलिए बुलाई है आपने?'

'आइए उल्का बहिन, यह है दादा साहब—' अन्ना साहब ने ज़रा डरते डरते हुए कहा!

'दोनों को ही मैं पहचानता हूँ! पूरा पूरा—' उनके प्रत्येक शब्द में विष भरा हुआ था।

परन्तु वह विष पीकर दादा ने कहा—'उल्का आप से क्षमा मांगने के लिए आई है।'

'और हम लोग स्वराज्य माँग रहे हैं; परन्तु सरकार वह देती है कहाँ।' माणिकराव मेरी ओर तीव्र दृष्टि से देखकर बोले। पहाड़िया पर, गोवे की यात्रा में, कामाक्षी के सरोवर पर, सब दूर मुझ पर प्रेम की वर्षा करने वाली यही आँखें हैं ये! फिर बुद्धिवान मनुष्य और निर्बुद्ध प्रकृति में क्या अंतर रह गया? प्यासे पेड़ों को मेघ में से पानी मिलता है; परंतु उसी मेघ में से उन पर बिजली भी गिरती है।

' दादा ने मृदुल स्वर में कहा—'विवाह निश्चित होने की बात हमारे पास से जयवंत शिरोड़कर को पता लगी, यह बहुत बड़ी गलती हुई। मैं इसके लिए आप कहें वह सजा भुगतने को तैयार हूँ। मैं आँचल फैलाता हूँ—'

'आप आँचल फैलाएँ चाहे कालीन बिछाएँ! एक बार जो निश्चय हुआ सो हुआ। फिर मैं किसी भी तरह इरादा बदलने वाला आदमी नहीं!'

मुझे गुस्सा छूटा। मैंने कठोर कर्कश स्वर में चिल्लाकर कहा—

'यह अंगूठी क्यों पहनाई है तुमने मेरे हाथ में?'

'प्रेम की निशानी समझ कर!'

'कहाँ है वह प्रेम?'

'उड़ गया वह!'

'प्रेम का मतलब है एक उड़ती फिरने वाली चिड़िया। क्यों?'

'ज़रूर! उसे पिंजड़े में बंद रखना ही पड़ता है!'

मैं थर थर काँपने लगी। आगे के शब्द मेरे मुँह से निकल ही नहीं रहे थे!

अन्ना साहब बीच में समझौता कराने के विचार से बोले 'माणिकराव, एक बार जो विवाह निश्चित हुआ, उसका टूटना—'

'अन्ना साहब, आप तो तलाक़ के समर्थक हैं! पति-पत्नी का आपस में नहीं जमता हो, तो हर एक की राह अलग है, यह तुम्हें कबूल है न?'

'हाँ, परन्तु तलाक़ का सवाल ही नहीं उठता यहाँ!'

'विवाह के पहले का तलाक़ है यह। अन्ना साहब, ऐसा देखिए—अगर एक पद्धति से सवाल हल न होता हो, तो दूसरी रीति नहीं खोजनी चाहिए?'

समाज-सुधार के बारे में यही उदाहरण चंद्रकान्त ने भी दिया था। माणिकराव ने वही दृष्टांत प्रेम के बारे में घटित किया।

दादा ने कहा 'उल्का आपकी मर्ज़ी के खिलाफ़ नहीं जायगी। जो बीत गया सो भूल जाइए और—ऐसे निष्ठुर आप बने तो बच्ची के जीवन का सत्यानाश हो जायगा।'

दादा के दयनीय उद्गार अब मुझे अपमान जनक लगते हैं। परन्तु उस समय मैंने चुपचाप वे सुन लिए। आशा को क्या? अपमान का कडुआ काढ़ा मुँह टेढ़ा मेढ़ा किए बिना चुपचाप वह पी लेती है।

'दादा साहब, सत्यानाश जैसे शब्दों से डर जाऊँगा इतना मैं नरम नहीं। मैं नहीं तो नहीं सही! दूसरा पति मिल जायगा आपकी लड़की को!'

'परन्तु इतनी आत्मीयता हो जाने पर—'

'तुम्हारे भांजे से जो विवाह निश्चित हुआ वह टूटने पर मैं मिल ही गया था न?'

'नातेदारी में था इसलिए वह विवाह निश्चित हुआ—'

'आत्मीयता का अर्थ क्या होता है मैं जानूँ भी—' माणिकराव ने पूछा।

मेरे जलने वाले मन से चुप न रहा गया। मैंने कहा 'आत्मीयता का अर्थ है किसी मध्यरात्रि को, चाँदनी में, किसी लड़की को मंदिर के सामने के सरोवर पर ले जाना, उसका हाथ अपने हाथ में लेना—'

आगे मुझ से एक शब्द भी न कहा गया!

माणिकराव चिल्लाकर बोले—'अथवा दिनदहाड़े क़िले के बुर्ज़ पर किसी तरुण के हाथ में हाथ डालना! क्यों यही है न उल्का बहिन? वसंत की और आपकी ऐसी ही घनिष्ठता थी न!'

मैं आश्चर्यचकित हो गई। परन्तु यह सब बातें उनसे कही किसने ? वसन्त ने ? बुआ फिर वसन्त से विवाह निश्चित करने आई थीं ! दादा ने मेरा दूसरी ओर कहीं विवाह पक्का हुआ है ऐसा कहकर उसे नहीं कह दिया। वसन्त ने उसी बात का प्रतिशोध यों लिया है क्या ? माणिकराव के इन उद्गारों से हुआ अपमान मुझसे सहन न हुआ। भान न रहकर मैं चिल्लाई 'मैंने सिर्फ वसन्त का हाथ ही अपने हाथ में लिया होगा। परन्तु तुम्हारी भावी वधु इन्दु–'

प्रतिहिंसा के विचार मेरे मन में नाच रहे थे। मेरे अन्तिम शब्द कान पर पड़ते ही माणिकराव की मुद्रा में परिवर्तन हुआ। 'इन्दु का सच्च बाप कौन है यह तुम जानते हो ?' यह प्रश्न मैं आगे पूछने ही वाली 'थी त्योंही दादा ने गुस्से से कहा 'उल्का–'

मैं चुप रही !

'क्या कह रही थी तुम इन्दु के बारे में ?' माणिकराव ने पूछा। उन के स्वर में सन्देह स्पष्ट दिखलाई दे रहा था। प्रेम गुलाब की भाँति हो। परन्तु उसके आसपास मत्सर के काँटे जो होते हैं–जो कि भू पर के काँटों से भी बड़े होते हैं। दादा ने मुझे बोलने नहीं दिया। वह बोले—'विशेष कुछ नहीं। इन्दु है बारदेशकर की लड़की। आप हैं ब्राह्मण ! तब वह उसके बाप को कहाँ तक अच्छा लगेगा ?'

'बस इतना ही है न ? बाप की रुचि अरुचि को पूछता कौन है इस सुधार के युग में ?'

वापिस जाते हुए आँखें पोंछते पोंछते बाईं करांगुलि की अंगूठी का स्पर्श उन आँखों को हुआ। मुझे कितना बुरा लगा। यदि वह अँगूठी मैं माणिकराव के वदन पर फेंककर निकल आती तो मुझे थोड़ा संतोष होता।

रात को बिछौने पर मैं बड़ी देर तक तिलमिला रही थी। मन कह रहा था – शाकुंतला का पाँचवाँ अंक आज समाप्त हुआ। कालिदास कवि था

इसलिए उसने उसके आगे दो अंक लिखे। प्रत्यक्ष जीवन में और नाटक में यही अंतर है। हमारे शाकुंतल पांच अंक के होते हैं! इन पांच अंकों में समय आने पर दुष्यन्त और दुर्वास यह दोनों काम एक ही व्यक्ति करता है।

● ● ●

आधी रात के बाद मेरी आँख झिपकी। परन्तु सवेरे मैं जल्दी ही जग गई। मन में न जाने क्या क्या विचार आने लगे। दो बार मेरा विवाह निश्चित हुआ और टूटा। अब समूचा जीवन लोग जो परिहास करेंगे उसे सहते हुए बिताना चाहिए। समूचा जीवन! अभी कहीं बीस बरस की हुई हूँ मैं! आदमी की आयु सौ वर्ष की होती है ऐसा कहते हैं। और अस्सी बरस इस दुनिया में बिताने हैं! किसके बल पर? किस आधार पर? दादा और माँ कल मुझे छोड़ जावेंगे और तब—

उनके जाने से पहले ही मैं दुनिया से चली गई तो? दुनिया का जो इतना अनुभव मिला है वह क्या कम है? कभी न कभी मरना है ही। आज करने लायक काम कल पर नहीं डालना चाहिए यह सूक्ति दादा ने ही सिखाई है। फिर आज अगर मर सकती हूँ तो कल तक क्यों रुकूँ?

ऐसी मनस्थिति में भी सूक्ति का वह दुरुपयोग देखकर मुझे हँसी आ गई। परन्तु झट से मैं मन को मारने की बात सोचने लगी। बंबई में क्या कहना है? सब ओर मृत्यु के दरवाज़े खुले हैं। ऊँची इमारत पर से कूदा जाएँ। चलती मोटर – ट्राम – रेल के आगे गिरकर मर जाएँ। इतना बड़ा समुद्र है। उसमें मज़े से जाकर सोया जाय!

दुबले शरीर में रोग निर्माण होते हैं। दुबले मन में ही आत्महत्या के विचार आते हैं। उस समय मेरे मन पर ज़रा भी क़ाबू न था। दादा का वात्सल्य, माँ की ममता — मुझे कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था।

'मैं बाहर जाकर आती हूँ – ' आधी नींद में पड़े दादा को कहकर मैं

कमरे के बाहर आ गई। बंबई जग गई थी! ट्राम की प्रभातियाँ सुनाई दे रही थीं। मैं रास्ते पर आकर खड़ी रही। कहाँ जाना है? प्राण कैसे देना है? किसी तरह मन का निश्चय नहीं हो रहा था। पैर जिधर ले जाते उधर ही मैं जा रही थी। मनुष्य मृत्यु से क्यों डरता है? अकेले, मृत्यु के राज्य में जाना पड़ता है, इसीलिए! परन्तु दुनिया में आजीवन जिसे अकेले रहना है, उसे मरण का डर कहाँ है!

'ताज़े समाचार! ताज़े समाचार! ले रही हो माई?' नौ दस बरस के लड़के का प्रश्न सुनकर मैं खड़ी रह गई। एकदम मेरे मन में यह विचार आया – कल की ताज़ी खबर होगी मेरी आत्महत्या!

उस लड़के की तरफ देखकर मैं एकदम रोने को हो आई। दस बरस का कोमल लड़का। सच कहें तो उस समय मीठी नींद में होता वह! परन्तु ग़रीबी! मीठी और नींद जैसी सब चीज़ें इस बीमारी में पथ्य के नाते वर्ज्य होती हैं।

वह बच्चा तिलमिलाकर बोला–'मेरी बोहनी करो माई!'

मैंने पूछा 'तेरे घर पर कौन कौन हैं रे?'

'बाप मिल के बिजली के पट्टे में आकर मर गया। माँ बीड़ी बनाती है। तीन बहिनें और दो भाई हैं मुझे बहिनजी! मैं ही सब से बड़ा हूँ!'

'माई' से वह 'बहनजी' पर कैसे आ गया यह मेरी समझ में आया। दुखी मनुष्य की कोई ज़रा भी पूछताछ करे तो उसे आनंद होता है!

मैंने समाचार पत्र की एक प्रति खरीदी!

पोल्के में हाथ डालकर देखा। हाथ को चवन्नी लगी। वह निकालकर उसके हाथ में रखी।

उसने कृतज्ञ दृष्टी से मेरी ओर देखा। और 'ताज़े समाचार' चिल्लाता हुआ वह आगे जाने लगा। वह जब तक दिखाई देता रहा तब तक मैं उसी की ओर देखती रही।

मेरे जीवन के सब से विकट समय में वह मेरा गुरु बना। मरना और मारना, बहुत आसान होता है। जीना और जिलाना उसी अनुपात में बहुत कठिन ! मरना ही हो तो जीने के प्रयत्न में, दूसरे को जिलाते हुए क्यों न मरा जाय ? मुझे चंद्रकांत की याद आ गई।

मैं जल्दी जल्दी से लौट आई। दादा जग गए थे और मेरी राह देख रहे थे।

'कहाँ गई थी बेटी?—मुझे लगा—' अंतिम शब्द बोलते समय उनका कंठ भर आया था। मुझे न जाने कैसा लगा।

'कोई समाचार पत्र मिलता है क्या, यह देखने नीचे गई थी।' ऐसा कहकर मैंने हाथ में का अखबार बिस्तर पर फेंक दिया। परंतु मेरी ही तरह उनका मन भी कहाँ ठिकाने से था ? उन्होंने उसे खोलकर नहीं देखा।

देर होने से चंद्रकांत मिल में जायगा इसलिए चाय पीकर हम उसी समय उसके घर जाने के विचार से चल पड़े। राह में पढ़ने के लिए कुछ चाहिए इसलिए वह अंक हमने ले लिया। परन्तु उस अंक की नलिका खोलने की इच्छा नहीं हुई मुझे।

चंद्रकांत के रहते हुए घर के पास हम आए। उसका किया हुआ नरक का वर्णन मुझे अक्षरशः सच जान पड़ा। जिधर देखो उधर दुर्दशा दिखाई दे रही थी। बेडौल 'चालें' उनके टूटे हुए जीने, कुंद कमरे, अंदर की गंदगी—

बड़े प्रयत्न से चंद्रकांत के कमरे में हमने प्रवेश किया। उस छोटे से कमरे में सफ़ाई और व्यवस्थितता थी।

परन्तु दरवाज़ा खोलते ही सामने के कोने में बिछाना दिखाई दिया और मैं मन में कुछ चौंक गई। चंद्रकांत किसी रोगी को ज़बर्दस्ती सुला रहा था।

हमें देखकर उसे आश्चर्य हुआ। परन्तु दूसरे ही क्षण में उसकी आनंदित वृत्ति जागृत हुई और वह बोला—'उल्का बहिन, मज़दूर का घर है यह। कुर्सी उर्सी कुछ नहीं मिलेगी यहाँ।'

बिस्तरे पर लेटा हुआ आदमी आंबेगांव का कुरवाड़ी (खेतीहर) था। बुख़ार में उसे सन्निपात हो गया था। उसका वह प्रलाप सुनकर मेरा शरीर सिहर उठा। वह देहाती बोली में कह रहा था—'गहरा, बहुत गहरा है पानी हमारी नदी का। कूदो, कूदो उसमें, कूद मेरे राजा! लगान न दिया तो जब्ती आवेगी घर पर। सिर ही फोड़ दूँगा—देखूँ कौन आता है जब्ती के लिए। पचास रुपयों के लिए ज़मीन नंगी करके—'

वह क्रोध से दाँतों से ओठ चबाने लगा।

चंद्रकान्त उसे एक सा समझा रहा था—'सगुण, चुप रहो, सगुण, चुप रहो!' परन्तु वात में जो आदमी हो वह कहीं ऐसे सुनता है! खूब बोल लेने के बाद जब वह थक गया तो चुपचाप पड़ा रहा।

चन्द्रकान्त ने उसकी सब कहानी सुनाई। सगुण इधर अभी अभी बीमार पड़ा था। घर भेजने को उसके पास पैसे कहाँ थे। दादा की चिठी आई—'पैसे भेजो। नहीं तो घर पर जब्ती आ जायगी!' वही बात उसके मन में—पागल मन में—घूम रही थी!

मुझे बुरा लगा हुआ देखकर चन्द्रकान्त बोला 'उल्का, एक सगुण को देखकर रोती है तू। परन्तु परेल की मज़दूर बस्ती ही क्यों—बम्बई, हिन्दुस्थान—समूचा देश ऐसे सगुणों से भरा हुआ है। आँखों में समुद्र हो तो वह रो रो कर सूख जायगा।'

'और वह सूख जाने पर समुद्र के पेट का वड़वानल बाहर निकलेगा उसमें से!'

'कैसा अच्छा कहा!' ऐसा कहकर वह हमारे चाय की तैयारी करने लगा।

चाय का उबलता पानी नीचे कर रख वह मुझसे बोला—'उल्का बहिन, मेरी मदद करोगी?'

मैंने गर्दन हिलाकर हाँ कहा।

'सगुण की छाती अलसी से सेंकना है।'

चाय पीने पर वह अलसी उबालने लगा। मैंने वह कपड़े में लेकर सेंकना शुरू किया। जीना और दूसरों को जिलाना यह सवेरे का शुभ निश्चय कर्म में उतारने का यह सहज अवसर मिला मुझे।

सेंक समाप्त होने पर दादा ने माणिकराव की सब कहानी सुनाई। चंद्रकान्त को उन्होंने मिल में से निकाल दिया यह भी हमें पता लगा। अभी वह कोई काम नहीं कर रहा था।

थोड़ी देर तक कोई कुछ नहीं बोला।

मेरे हाथ में का अख़बार देखकर उसने कहा 'आज का है?'

'हाँ!'

'देखूँ क्या हैं समाचार!'

अंक खोलकर उसके हाथ में देते समय सुर्खी के मोटे अक्षर मेरी दृष्टि के सामने आए 'क्रांतिकारी स्त्री को सज़ा!'

उसने झट मे उस मज़मून पर नज़र डाली और वह खिड़की के पास जाकर सड़क की ओर देखता रहा। विजय मुख़बिर बनकर छूट गया था। कल्पना को पाँच बरस कड़ी मज़दूरी की सज़ा मिली थी। विजय की गवाह से चंद्रकांत ही मुख्य गुनहगार साबित होता था, उसे पकड़ने पर उसे और कड़ी सजा देना उपयुक्त होगा, ऐसा निर्णय न्यायाधीश ने दिया था।

मैं धीमे से चंद्रकांत के पास गई।

उसकी पलकों की कोर कुछ भींग आई थी। सर्दियों में घास पर ओस की बूँदें न भी हों तो भी उनका गीलापन सहज जाना जा सकता है। उसकी आँखें वैसी ही दिखाई दीं।

'यह क्या है रे!' मैंने कहा।

'मोह! प्रेम!' हँसकर उसने उत्तर दिया।

मैंने हाथ में की माणिकराव की अंगूठी निकालकर उसके हाथ पर रखी!

उसने पूछा 'यह क्या है ?'

'मोह का त्याग !' मैंने उत्तर दिया, 'सगुण की दवादारू के लिए खर्च करो इसे !

२३

सगुण कुछ अच्छा होने तक मैं जानबूझ कर बंबई में रही। रोज़ सबेरे मैं चंद्रकान्त के घर जाकर शाम तक वहीं रहती और उसके शुश्रूषा कार्य में मदद करती। मेरे पूरे जीवन में जितना अनुभव न आया हो, वह उन दिनों मुझे मिला। मज़दूर का अर्थ है एक प्राणवान् यंत्र। इस सप्राण यंत्र की प्राणहीन यंत्र के बराबर भी चिंता नहीं करनी पड़ती। उसका अन्न, कपड़े लत्ते, दवादारू सब कुछ कितना दारिद्री होता है ! सगुण की सेवा करते समय मेरे मन में विचार उठता, यह लोग इतने भिखारी क्यों हैं ? बंगले में रहने वाले, मोटरों में घूमने वाले, हीरे मोती के गहने पहिनने वाले अमीर इनसे अधिक काम करते हैं क्या ? इनको शिक्षा दी गई तो इनके हाथों उनका काम नहीं होगा क्या ? फिर इनकी यह दुर्दशा क्यों ? इनके माँ बाप गरीब थे, इसीलिए न ? यह एक ही कारण मुझे दीखने लगा। ग़रीबी एक वंशपरंपरा का रोग है। इसी रोग में से व्यसन, चोरी, दुष्टबुद्धि आदि बहत्तर रोग निकलते हैं। पुस्तैनी अमीर — फिर वह कितने ही नालायक क्यों न हो — सुखभोग करते हैं। पुस्तैनी ग़रीब — फिर वे कितने भी लायक हों — उन्हें सिर ऊपर उठाने को मौक़ा ही नहीं मिलता।

हम जहाज़ से वापिस आए। चंद्रकांत दूसरी मिल में काम देखने को कोशिश कर रहा था, नहीं तो समय काटने के लिए मैं भी उसे साथ साथ लाने वाली थी। इसके साथ ही उसे इधर लाने में एक डर था बड़ा। कोई हज़ार रुपये की लालच में अगर उसे पुलिस को दे दें तो — इससे तो बंबई में था वही अच्छा था !

घर आने पर सब खबर सुनकर माँ ने बिस्तर पकड़ लिया। मैंने उसे बहुत समझाया। परन्तु उसने तो एक ही रट ले ली ! 'तारा की शादी ! उल्का की शादी !' दादा को क्या करना यह नहीं सूझता था। किसी भी राह चलते चोर के गले में तो लड़की बाँधनी नहीं ? और लड़की के पास खूब पैसा होने की जब तक गारंटी न हो तब तक वह भी क्यों ऐसी लड़की को गले बाँध लेगा ?

इस चिंता का परिणाम माँ के बीमार शरीर पर होकर वह बहुत जल्दी बिछाने से बँध गई। वेंगुर्ला के बड़े डॉक्टर को दादा लाए ! उन्होंने Galloping Pthysis (शीघ्र क्षय) है यह निदान किया। उनके शब्द मेरा कलेजा काटते गए। दादा ने तो गर्दन मोड़कर आँखें पोंछीं। Galloping Pthysis ! मृत्यु मेरी माँ को ले जाने के लिए घुड़ दौड़ से आ रही है ! कितनी असह्य है यह कल्पना ! रात को नींद में से जगती तो मन में आता–' ना ! माँ बीमार नहीं है और कुछ नहीं है। क्या भयानक सपना मुझे आया " ! इतने में माँ का कराहना सुनाई दिया और—

माँ को दवा देते हुए, उसका बिस्तरा साफ करते हुए, उसके पास बैठकर उसे अच्छा लगे ऐसा कुछ पढ़कर सुनाते हुए, सदासर्वदा एक ही विचार मेरे मन में आता था। आज हमारे सामने दिखाई देने वाली माँ कल–कल कहाँ खोजूँगी उसे। माँ के मेरी पीठ पर हाथ फेरने पर हृदय में से कैसी वत्सलता की, करुणा की टीस सी उठती। कितनी बार लगा कि मैं कितनी दुष्ट और निर्दय हूँ। माँ को जितना सुख देना चाहिए, मैं न दे पाई कभी। जब जब दादा मेरे विवाह के बारे में बोलते, तब तब उसकी आँखों में आँसू आ जाते। उन आँसुओं में विवाह न करने के मेरे सारे निश्चय डूब जाते ! एक दिन दादा घर में नहीं हैं ऐसा देखकर उसने मुझे पुकारा। मुझे पास लेकर मेरी ओर एकटक बड़ी देर तक वह देखती रही।

'ऐसा क्या देखती हो मेरी ओर ?'

'कैसा भी देखने से मेरी नज़र नहीं लगेगी तुझे !'

थोड़ी देर रुक कर वह बोली—'बेटी उल्का, मैं कुछ कहने वाली हूँ तुझे।'

'थोड़ा क्यों ? बहुत कुछ कहो न !'

'बहुत कुछ कहने को तुम्हारे समान मैंने किताबें कहाँ पढ़ी हैं !'

मैं ध्यानपूर्वक सुनने लगी।

'बचपन में बच्चा मिठाई के लिए हट करता है। है न ? बिल्कुल वैसा ही हट बड़े होने पर मन भी करने लगता है। बच्चे को और मन को मार कर कभी काम नहीं होता। बेटी, विधवाविवाह करने वाली तुम्हारी माँ का अनुभव—'

'फिर आ गईं तुम अपनी उसी बात पर ?' मैंने हँस कर कहा।

'तो क्या विवाह करेगी न तू ?'

'हाँ, शादी करके देखो ऐसी कहावत ही है।'

माँ के सन्तोष के लिए विवाह करने के उसके आग्रह को मैं हूँ हूँ कहती थी। परन्तु सच बात यह थी कि उसके बारे में आशा या इच्छा उस समय मेरे मन में तीव्रता से शायद ही उत्पन्न होती। माँ की बिमारी के अन्तिम समय एक बात घटित हुई। मुझे विश्वास हो गया कि इस दुनिया में मेरा विवाह होना बिल्कुल असंभव है।

माँ के औषध, उपचार, पथ्य—पानी आदि में दादा ने कोई कसर नहीं उठा रखी थी। बहुत बार वह गुस्से से कहती-'क्यों बालू में पानी डालते हो ?'

'जब तक श्वास, तब तक आस।' वह जबाब देते।

इस बीमारी के खर्च से उनके हाथ में जो कुछ बचाखुचा था वह भी खर्च हो गया। माँ के गहने उसके सामने बेंचना उनके लिए मुश्किल हो गया। इसके अलावा मेरा विवाह होने पर मुझे कुछ देना चाहिए यह कल्पना भी थी उसके मूल में ! हमारी जाति में सुना था कि कान के मोति

के गहने पीहर वाले ही पहिनाते हैं, नहीं तो जनम भर लड़की के कान बुच्चे रहते और वह कनफटी कहलाती !

दादा इंदु के बाप के पास कुछ पैसे उधार माँगने गए। इंदु ने ब्राह्मण से विवाह करने का निश्चय जब से किया तब से वह एक सिरे से सब ब्राह्मणों का उद्धार करता ही था। दादा के जाने पर मूल बात तो एक तरफ रही। उसने इंदु के बिगड़ने का सारा दोष दादा के शिक्षण के मत्थे मढ़ा। 'तुम्हारी शाला में धर्म नहीं, नीति नहीं! लड़के बिगाड़ते हो तुम, परन्तु उन्हें सुधारना पड़ता है हमें!'

दादा उत्तर देने की स्थिति में नहीं थे। उन्होंने नम्रता पूर्वक पैसे माँगे। बस उसी क्षण उन पर यह वर्षा हुई —'शहर में हमारा अपमान करके ऊपर पैसे मांगने आते हो, क्यों? तुम्हें शरम नहीं आती मेरे दरवाजे में पैर रखते हुए?' उनके सब बोलने का अन्वय—अर्थ लगाने पर फिर दादा के ध्यान में आया। बुआ और चंद्रकांत की माँ के आगे इंदु के जन्म के विषय में माँ गुस्से से बोली थी। वे दोनों कुछ कम प्रवीण नहीं थीं दोनों ओर आग लगाने में। उसी तिल का यह इतना बड़ा ताड़ बना था।

उस दिन दादा ने अपने 'विचार तरंग' में जो लिखा है, पढ़कर मानो वह चंद्रकांत ने ही लिखा है ऐसा जान पड़ता है।

'जिसके पास पैसा नहीं वह पशु है! जिसके पास पैसा है वह राक्षस है! इस दुनिया में आदमी मिलना मुश्किल हो गया है! शराब, वेश्या, जुआ, रेस, सब तरह के व्यसनों का अर्क है यह पैसे का व्यसन! विषमता का मूल पैसे में, स्वार्थ का मूल पैसे में, दुनिया के सारे दुखों का मूल मुट्ठी भर लोगों के हाथों में जमा इसी पैसे में है। किसी गड्ढे में जमे हुए पानी की तरह आज की दुनिया का पैसा नहीं है क्या? इस पानी का उपयोग न पीने में हो सकता है न जानवरों के काम का यह पानी है न खेती के। व्यर्थ की विला-

सिता के जंतु उस में बड़ी तेज़ी से अपने अंडे देते जाते हैं। इन मच्छड़ों का फैलना है कि आसपास के लोगों का मरना बहुत जल्दी पास आ जाता है।

दो तप तक एकनिष्ठा से शिक्षण का काम करके मरण के दरवाज़े पड़ी हुई स्त्री को औषध देने को मेरे पास पैसा नहीं। विवाह की लड़की के लिए खर्च करने को मेरे पास कौड़ी नहीं। क्या करना है ऐसी पढ़ाई से? वसंत – माणिकराव से अधिक ऊँचे दर्ज़े के कितने आदमी आज की शिक्षा निर्माण कर रहे हैं?'

माँ की बीमारी से दादा का स्कूल की ओर क्या, किसी भी चीज़ की ओर ध्यान नहीं लगता था। एक दिन क़िले के पास की धीवरों की बस्ती में से एक बुड्ढा उन्हें बुलाने आया।

'क्यों रे?' दादा ने पूछा।

'बीमार हो गया है लड़का, मास्टर साब।'

ऐसा कहकर आँखें पोंछते हुए उस बुड्ढे ने सब बातें बताईं। किसी को भी क़िले पर जाना हो तो सुनते हैं दादा उस लड़के को साथ दे देते थे। आजकल बहुत दिनों से वह स्कूल में नहीं आ रहा था। परन्तु स्वयं की व्यस्तताओं और चिंताओं में उनका ध्यान उस ओर नहीं गया। दादा उसके साथ जाने को तैयार हुए।

'बहिन को भी साथ ले लो!' उसने कहा। दादा को आश्चर्य हुआ। परन्तु उस लड़के की वैसी इच्छा है यह सुनने पर अधिक आनाकानी न करते हुए दादा ने मुझे भी साथ ले लिया। निरा की माँ को मेरी माँ के पास बैठाकर हम चले।

राह में उस बुड्ढे ने अपने सारे कुटुंब की सब बातें सुनाईं। वह लड़का भतीजा था! उसका भाई पाँच छः छोटे बच्चे छोड़कर बचपन में ही स्वर्ग सिधार गया। कुल मिलाकर दस बारह आदमियों का कुनबा था। उनका

पेशा था मछली मारने का! कभी कभी साल भर की कमाई सौ–सवा सौ रुपयों से ऊपर नहीं जाती थी। दादा की शाला में आने वाला लड़का बहुत होशियार था। मराठी शाला में पहला नंबर उसका आता था। अंग्रेज़ी शाला में दादा ने उसकी फी माफ़ की, उसे पुस्तकें दीं! घर में सब को आनंद हुआ। लड़का सीखेगा, महीने में बीस पच्चीस रुपयों की नौकरी कमाएगा! फिर सुख की क्या कमी है? पगली आशा!

दो तीन मील से वह नित्य स्कूल में आता। घर में चावल सब के खाने के नहीं होते। परन्तु वह सिर्फ चावल उबालकर माँड (पेज) पीता, स्कूल में जाता, शाम को आने पर फिर दिन की माँड पीता और रात को ग्यारह बजे तक बाहर सड़क के कंदील के पास पढ़ाई करता।

यह वर्णन सुनते हुए मुझे बंबई के मज़दूरों की याद आ गई। वहाँ वे मज़दूर — यहाँ ये धीवर – दूसरी ओर –

उसका घर पास आ गया था, इसलिए मेरे विचार रुक गए। घर क्या था? ऊपर फूस डाला हुआ एक झोंपड़ा सा था! अंदर जगह भी कितनी थोड़ी थी। अंधेरे में कुछ दिखाई दे इसलिए दिन के उजाले में प्रकाश की अपेक्षा धूँआ ही जिसमें से ज्यादह निकल रहा था ऐसी एक ढिबरी बीमार के सिरहाने रखी थी। मैंने उस बीमार लड़के की ओर देखा। मेरे प्राण काँप उठे। उसका बिछाना कुछ चिंधियों को बना हुआ था। न जाने कैसी फटी सी थेगरों वाली एक रज़ाई उसके पेट के पास सिमटाए पैरों पर पड़ी थी। उसका पेट इतना फूला था, कि आज भी उसकी याद आते ही शरीर काँप काँप उठता है!

‘सहन नहीं होता जी’ उसने रोते रोते कहा।

‘डरो नहीं बेटा! डॉक्टर लाएंगे हम अच्छा सा!’ दादा ने उसके चाचा की ओर देखकर कहा– ‘पेट क्यों दुखता है तुम्हारा?’

‘माँड पी पीकर सर्दी खा गया हूँ मास्टरजी।’

गर्मी, बरसात, सियाला—सब में वही माँड ! सवेरे माँड, शाम को माँड, बासी माँड ! अध्ययन के लिए जगते रहना । बेचारा पेट भी क्या करता !

दादा खिन्न दृष्टि से ऊपर देख रहे थे । मानो वे अदृश्य ईश्वर को पूछ रहे थे ।—' इस ग़रीब नन्हे प्राणी ने किसका अपराध किया है जो उसे तू यह सज़ा दे रहा है ? '

उस लड़के से हाथ भी ठीक से ऊपर नहीं उठ रहा था । बड़े कष्ट से कराहते हुए वह हाथ आधे आधे ऊपर उठाकर, जोड़कर वह बोला—'मास्टर जी, क्षमा करो । मुझे क्षमा करो बहिन जी । '

हम दोनों ही कुछ न समझ सके । उस की आँखों से आँसू की धार बह पड़ी । ' बहिन जी, रुपया दिया उस दूसरे पाहुने ने और मैंने कहा वह ! '

' क्या कहा—'

' वह पहले पाहुने और बहिन जी बुर्जे पर—'

उससे आगे न बोला गया । परन्तु मेरे ध्यान में सब आ गया । वसंत क़िले पर गया था तब की सब बातें इस लड़के ने माणिकराव से कही थी । रुपयों का लालच ! कैसे रोके वह अपना मन ? माँड के सिवा अन्न नहीं । अपनी फटे कपड़ों के सिवा वस्त्र नहीं । अपनी कक्षा के अमीर साथी देखकर इसका मन सदा ही चुप रहा होगा क्या ?

उसे धीरज देकर हम वापिस आए । ब्रह्मेश्वर के देवालय के पास इंदु की माँ दिखाई दी । देव-दर्शन को जा रही थी वह ! उसके बदन पर के गहनों की ओर मैंने देखा । कम से कम पाँच हज़ार रुपये वहाँ नाच रहे थे ।

वह धीवर का लड़का – इंदु की माँ ! ये दोनों चित्र सारी रात भर मेरे मन में नाचते रहे ।

दूसरे दिन सवेरे वह लड़का मर गया ऐसा सुना । दादा जानबूझकर उसके दहन को गए थे । घर आने पर उन्होंने कहा – ' उल्का, आज उसके चाचा ने क्या किया होगा ? '

'बेचारा रोता रहा होगा!'

'ऊँ ऽ हूँ! गुस्से से उसने सब किताबें जमा कीं और वह उसी के साथ जला दीं।'

यह कहते हुए दादा के चेहरे पर हँसी दिखाई दी। मानो उन्हें उन जलने वाली पोथियों के प्रकाश में अपने आदर्श का मार्ग ग़लत है यह स्पष्टतः जान पड़ा था।

उस लड़के के मरण का परिणाम माँ के मन पर भी हुआ। दिन ब दिन उसका स्वास्थ्य गिरता ही गया। अंत में तो उसे उस करवट से इस करवट पर मुड़ना भी मुश्किल हो गया। दादा को और मुझे लगा कि आख़िर अब इसे जल्दी जीवन से छुटकारा मिले तो अच्छा हो।.

परन्तु यह विचार वह मौत के दरवाज़े में अटकी थी तभी तक टिके। जिस दिन मृत्यु अपना दरवाज़ा खोलकर उसे उस पार ले गई उस दिन — वह द्वार बिजली के समान क्षणार्ध के लिए खुला और बंद हो गया। उस दरवाज़े के उस पार क्या है, कौन जानता है? ज़बर्दस्ती से वह खोलकर हम अंदर जाए भी तो हमें हमारा प्रिय व्यक्ति मिलेगा ही इसका क्या भरोसा है?

कई दिन तक मेरी आँखों के आँसू नहीं थमे। घर की हर एक चीज़ से माँ की याद आती थीं। वह जो खद्दर की शाल ओढ़ती थी, वह पेट से चिपटाकर बैठे रहने को मन करता! दादा और उसका मेरे जन्म से पहले निकाला गया फोटो! कितना धुंधला हो गया था, फिर भी घंटों उसी की ओर देखते रहने मुझे आनंद मिलता!

ऐसे समय मेरे मन में कई कई अजीब अजीब विचार आते। विश्व एक जंगल है; मनुष्य उस जंगल में की किसी वृक्षवल्लरी को लगा हुआ एक पत्ता है। परन्तु शीत–काल में यह पत्ता झर जाता है और फिर भी वसन्त में उसके स्थान पर दूसरा पत्ता उगता ही है न! इसमें कहाँ का सुख और

कहाँ का दुख ? कई बार लगता, मानवी जीवन परमात्मा के ताश का खेल है निरा !

परन्तु उसी क्षण दादा का त्याग, माँ का प्रेम, चन्द्रकान्त का आदर्श वाद उसी धीवर लड़के की मौत – हज़ारों बातें हृदय में तूफान पैदा कर देती। लगता, जीवन केवल मृग-मरीचिका नहीं है। वह सचमुच समुद्र है। इस समुद्र में तैरते रहना, डूबते हुओं को सहारा देना यही अपना काम है। परन्तु इस अगाध समुद्र में तैरते समय चट्टानों से कैसे बचें ?

धीरज किस आधार के सहारे रखें ? इस समुद्र में दीपस्तंभ कौनसा है? हम पर प्रेम करने वाले व्यक्ति की आँखें ही तो वह दीपस्तंभ है न ?

एक दिन अचानक बेलगाँव के पंडित का पत्र दादा के पास आया। वह उन्होंने पढ़ा और मुझे दिया। मैंने वह पढ़कर वापिस उनके हाथ में दे दिया।

कोई कुछ भी नहीं बोला।

२४

एक मार्ग होता है तब तक आदमी नाक के सामने सीधे जाते रहता है। परन्तु उसी मार्ग के कई हिस्से हो जाने पर वह घबड़ा जाता है। द्वितीय वर सुनते ही लड़की के मस्तक पर चिन्ता की रेखाएँ पड़ना स्वाभाविक ही है। तब पंडित के पत्र को मैं अनुकूल उत्तर दूँगी ही ऐसा दादा को विश्वास क्यों हुआ ? और नकार भी दें तो एक अच्छा खासा घरबैठे आया हुआ दूल्हा हाथ से छूटा जा रहा था। उनका मन इसी द्वंद्व में पड़ा था।

मैं तो उनसे भी अधिक चकरा गई। पंडित को मैंने प्रत्यक्ष देखा था। बुरा जोड़ा नहीं था। आंबेगांव की दो तीन हज़ार की आय, साथ ही अध्यापक की नौकरी। मेरा विवाह दो बार निश्चित होकर टूटने की शहर भर चर्चा थी। अब वह विवाह इतने सहज हो जाना भी संभव नहीं। ऐसी स्थिती में

चालीस के पास आए हुए द्विवर पंडित को यदि मैंने नकार दिया तो आजीवन क्वाँरी रहने के बिना मुझे कोई दूसरी गति ही नईं था।

क्वाँरी रहना क्या इतना कठिन है? हाँ, मेरा कम से कम यही अनुभव है! वसंत और माणिकराव ने मेरे हृदय में की हुई ज़ख्मों में से खून बहता था। परन्तु उन ज़ख्मों से बहते खून के साथ साथ दांपत्य जीवन के सुख की आशा नहीं बह गई थी। वह अभी भी मन में थी ही! चंद्रकांत का बोलना उस समय मुझे सत्य जान पड़ा। दोपहर होते ही भूख लगती है। जवानी में, हृदय में भी प्रेम की ऐसी ही प्यास लगती है। परन्तु इसमें दुनिया से अलग ऐसा क्या है?

दूसरा वर! मैं अपने मन को समझा रही थी—होंगे वे दुसरे वर! मैंने नहीं क्या वसंत और माणिकराव से प्रेम किया? उन्होंने भी वैसा ही अपनी मृत पत्नी पर किया होगा। उसमें खराबी क्या है? क्यों में अंतर कुछ अधिक जान पड़ता है ज़रा। परन्तु दादा को मेरे विवाह की जो चिंता सदा खाए जाती है, वह तो दूर हो जायगी! उसके लिए क्या यह संधि योग्य नहीं है? आंबेगाँव के इतने बड़े ज़मींदार हैं वे! शादी होनें पर उस शहर के खेतीहरों का सुधार नहीं कर सकूँगी क्या? शरीर की भाँति आत्मा की भी भूख होती है। यह विचार निश्चित हुआ तो मेरी भी भूख शांत होगी। वहाँ के खेतीहरों की – चंद्रकांत के कमरे में बुख़ार से पीड़ित पड़े सगुण की – उसके भ्रम में ज़ब्ती के बारे में चिल्लाने की – सब बातों की याद मुझे आ गई! इन लोगों को क्या मैं सुखी नहीं बना सकती?

अब इस कल्पना की मुझे हँसी आती है। बच्चे वगैरह कुछ नहीं थे पंडितजी को। रीति के अनुसार विवाह निश्चित हुआ और हो भी गया। विवाह के वर्णन युद्ध के समान रम्य नहीं होते। परन्तु उस समय की दो चार बातें कहे बिना मैं रह भी नहीं सकती! पहली बात यह कि निरा की माँ आने वाली थी हमारे यहाँ बेलगाँव! परन्तु जमाई को माता निकली इसलिए

जल्दी जल्दी में वह आंब्रेगांव चली गई। अर्थात् बेल्गाँव में विवाह के लिए 'गांववाले' नहीं आए। विचित्र संयोग की बात है! ध्रुवदर्शन के लिए पुरोहित हम दोनों को बाहर ले गए! ध्रुव कहाँ होता यह मुझे मालूम था। परन्तु विवाह के आनंद में कुछ परिहास करने की इच्छा होती ही है! उनसे बोलने की संधि मिले इसके लिए मैंने जानबूझकर कहा 'मुझे नहीं दिखाई देता वह कहीं!' वे मुझे अपनी उँगली से ध्रुव दिखाएँगे ऐसा मेरा ख़याल था। परन्तु इतने में कोई वहाँ आया, और उसने बताया कि 'गाँववाले' की आँखें माता से चली गईं।

हम ध्रुव की ओर देख रहे थे, तब उसकी आँखें जाने के समाचार मुझे तो बिल्कुल अपशकुन की भाँति जान पड़े। ग़रीब बेचारी निरा! आँखें होते हुए पति इतना सन्देह-शील था। अब तो कहना ही क्या था। इतने में मेरे मन में आया, अब मैं आंब्रेगाँव की मालकिन जो हो गई। निरा की मदद करना कुछ विशेष कठिन नहीं है मेरे लिए।

विवाह की एक दूसरी बात— हाँ, खादी के पोशाक से मची हुई गड़बड़! वेंगुर्ला के वालावल्कर दादा के अच्छे मित्र थे। शादी निश्चित हुई उसी दिन वे खादी की फेरी लेकर घर पर बेंचने आए थे। हमारे यहाँ आए उस समय बोले — 'उल्का बेटी, खादी पहननी चाहिए विवाह में!'

मैंने कहा 'मेरे हाथ में क्या है?'

उन्होंने कहा 'वाह! पति क्या है? पत्नी के हाथ का खिलौना! कैसा भी पोशाक पहिनो! यह खिलौना कोई तकरार नहीं करेगा!'

दादा ने जमाई के लिए अच्छे खादी का पोशाक किया। परन्तु ऐन समय को वह एक तरफ़ रख देना पड़ा। उन्हें एकदम खद्दर से नफ़रत थी। बोले 'ऐसा टाट पहनने के लिए मैं आंब्रेगांव का कोई गँवार नहीं हूँ। गाँव वाला समझकर दादा को और पागल समझकर गाँधी को उन्होंने गाली दी थी। एक बार मेरे मन में भी आया कि यह विवाह यहीं बंद कर दिया जाय!

दादा ने मेरे विवाह के लिए खूब खर्च किया था। मैं अपने पूरे ज़ोर से नहीं नहीं कह रही थी। परन्तु वे कहते थे—'शेले को सुहाए ऐसी ही साड़ी चाहिए, नहीं तो बेकार हँसी होगी चार लोगों में!' वह शादी में खर्च किया हुआ पैसा उन्होंने कैसे कमाया था, इस बात की याद करके अभी भी मन भर आता है! मुझे बेल्गाँव में छोड़कर वह घर लौटे उस दिन उनके लिखे हुए वाक्य थे – हृदय के रक्त में आँसुओं का पानी मिलाकर वह लिखे हैं ऐसा जान पडता हैं!

'अकेला, इस घर में आजीवन अकेला रहूँगा मैं। क़रीब क़रीब दो तप तक साथ रहकर जीवन की एक सहकारिणी चली गई। बीस बरस के प्रेम के पाश तोड़कर उल्का आज दूसरे पाश में जा पड़ी। पत्नी की दुनिया अब जैसे मुझसे अलग है वैसी ही उल्का की नहीं है क्या? ससुराल की मंडली, पति, बालबच्चे इन्हीं में वह कल रम जायगी। मेरी उसे कभी याद भी आवेगी? मन है पागल। नदी पर्वत में से निकलती है, इसलिए वह कहीं पर्वत में ही बहती रही है क्या? वह समुद्र की ओर बहती ही जाएगी, यह प्रकृति का नियम है।

उल्का के विवाह के समय मैंने अपने सब नियमों को, आदर्शों को ताक में रख दिया। कर्ज़ा नहीं करने का नियम था, सो किया। आज तक ट्यूशन न करने का निमय था, सो भी की। अब इसके आगे—बस ट्यूशन ही ट्यूशन! अच्छा होगा, चलो! इसी तरह समय भी कट जायगा, कर्ज़ा भी चुक जायगा! मेरी उल्का अच्छे घर में गई इस में सब कुछ पूर्ण हो गया। एक एक ही बात मन में अटकी रह गई। इस दुनिया में सुख की पैसे से जो जोड़ है वह योग्य है क्या?

पच्चीस बरस तक पैसे की ओर पीठ मोड़कर एक मार्ग से

गया ! उसका फल ? फल पर अपना अधिकार नहीं है यह कृष्ण ने फ़िज़ूल ही नहीं कहा । पहाड़ खोदकर रत्न निकालने का दो बरस पहले मैंने निश्चय किया । मेरे श्रम का फल है चूहों का भागना । क्या इस देहात में सच्चा समाज-सुधार हुआ है ? रत्ती बराबर भी नहीं । शिक्षा पानी है ! परन्तु वह समाज-वृक्ष के मूल में सींच देना काफ़ी है ऐसा मुझे लगता था । परन्तु इस वृक्ष के मूल में लगी जाति-द्वेष, विषमता और पैसे की गुलामी के कीट उसे थोड़े ही बढ़ने देंगे ? यह कीट कम होने ही चाहिए – कम करने ही चाहिए ! पचास बरस पास आ गए ! उसका नष्ट होना देखने का सौभाग्य आँखों को मिलेगा ? '

विवाह के समय चंद्रकान्त की ओर से जो उपहार मिला वह था बहुत नमूनेदार । वह एक साधारण पत्र था ।

' प्रिय उल्का बहिन,

तुम्हारे जीवन के इस मंगल अवसर पर तुम्हें अच्छा उपहार भेजने का विचार मैं कर रहा था । कल कहीं किसी मासिक-पत्रिका में मैंने एक छोटी कहानी पढ़ी । वही उपहार में भेजता हूँ ।...

आकाश और पृथ्वी ।

आकाश सदा पृथ्वी की ओर उपेक्षा से देखता । अरुणोदय का लाल रंग दिखलाकर वह पृथ्वी से पूछता – ' यह है प्रेम का रंग । तेरे पास कहाँ होगा वह । '

विविध रंगों से विमंडित सायंकालीन मेघ दिखाकर वह कहता— ' यह देखो मेरे खिलौने । तुम्हारे पास हैं ऐसे कुछ ? '

रात को चमकने वाले तारों पर तो उस से बहुत गर्व था । वह पृथ्वी को उपहास से सव्यंग कहता । ' तुम्हारे फूल ? आज खिलते हैं,

कल झर जाते हैं। परंतु यह मेरे फूल देखो। युगानुयुग से रात को खिलते रहे हैं ये!'

पृथ्वी थी भोली। आकाश निरा आभास है यह उसे नहीं मालूम था। उसे लगा, जो सचमुच में दीखता है वैसा ही है। अपना ही जल बुलाकर वह मेघ बनाता है और उसके खिलौने बनाता है। परंतु यह उधार लिया हुआ पानी वापिस करते हुए कृतघ्नता से वह गालियों की गर्जना करता है। परंतु विद्युत् के चाबुक वह उठाता है, इस बात की कल्पना भी नहीं थी उसे। उसे लगा — पानी देकर आकाश अपने ऊपर उपकार ही कर रहा है।

सब तारों को आलसी, विलासी और कृतघ्न आकाश पर गुस्सा आया। वे गुस्से से बोले — 'रंगबिरंगे मेघों की पोशाक और अरुण की मदिरा इससे आगे दूसरा कुछ दिखाई नहीं देता इस आकाश को। वह पृथ्वी देखो नहीं तो। पेट में आग जलने पर भी, वह चाहे जितना पानी आकाश को देती है। हृदय को आघात लगते हैं तो भी पीठ पर के प्राणिमात्र को वह माँ के प्रेम से सँभलती है! एक मीठा शब्द तुम उससे बोलो, झट से सौ मीठे शब्दों से वह उन्हें लौटाती है। ऐसी पृथ्वी को छोड़कर इस आकाश को चिपटे रहने में क्या मतलब है? चलो, पृथ्वी पर पत्थर होना अच्छा है, परन्तु आकाश का तारा होना ठीक नहीं।'

एक तारा टूटा। उल्का गिरी।

दूसरा तारा टूटा। पुनः उल्का गिरी।

सपाटे से एक एक कर तारे टूट कर नीचे गिरे। देह की राख हो रही थी — फिर भी वे हँस ही रहे थे। सब तारागण टूट पड़े। आकाश का सौन्दर्य लुप्त हुआ। आकाश पागल हुआ। पागलपन में वह नीचे कूद पड़ा।

आकाश ही नीचे गिर पड़ा।

वह गिर पड़ा उससे किसी का भी कुछ नुकसान नहीं हुआ। उल्टे पृथ्वी और स्वर्ग के बीच का पर्दा आप से आप नष्ट हो गया।

यह क्रान्ति किसने की?

उस प्रथम उल्का ने!'

●●●

चन्द्रकान्त की इस चिठी को आजकल मैं रोज़ पढ़ती हूँ। परन्तु उस समय वह मुझे बिल्कुल अच्छी नहीं लगी। मैंने मन में कहा 'क्या उपहार है! मंगल समय में ऐसा अमंगल! ऐसा भविष्य-कथन! इस चन्द्रकान्त को अक्ल आयगी भी कब?'

सुसराल में मेरा मन इतने जल्दी रम गया कि दादा की याद मुझे शायद कभी कभी ही होती थी। हाथ में हाथ डाल कर गोल नाच का खेल खेलने वाली लड़कियों को अपने आसपास की दुनिया कभी स्पष्ट दिखाई देती है क्या? विवाहित जीवन भी और क्या एक गोल नाच ही है! स्नेहाल सासू, बीमारी से एकदम चिढ़ चिढ़ करने वाले ससुर, बंगला, बाग, पाहुने, इष्टमित्र —इतना बड़ा संसार हो गया था मेरा!

संसार को शराब की उपमा किसीने दी है या नहीं, मुझे पता नहीं! परन्तु पति-पत्नी के विवाह के बाद पहली मुलाक़ात का मतलब शराब का एक प्याला पीने के बराबर होता है। पहले पहले थोड़ा नशा भी चढता है। बिल्कुल छोटी छोटी बातें भी संसार की शुरुआत में आदमी को पागल बना देती हैं। पति के कपड़े सलीके से हम चिनकर रखें, और उन्हें उठाकर पति कहे कि नौकरों के हाथ से कुछ अधिक इन कपड़ों में जादू लगा है। और इस दृष्टि से वह उनकी ओर देखकर हँसे! वैसा देखें तो इसमें विशेष कुछ नहीं है! परन्तु पहले ही दिन बाबुराव मेरी चिनी हुई धोती लेकर हँसे— सारे दिन भर उस हँसी की मंजुल प्रतिध्वनि मेरे हृदय मंदिर के गर्भ में गूँज रही थी।

ग़ल्ती से कभी एक ही दरवाज़े में दोनों की भेंट हो जाती तब–

यह दृश्य देखकर सासूजी कहती – 'सँभलकर हाँ, नहीं तो दो रेलों की भिड़न्त हो जायगी !'

मैंने अपना शरीर बचाते हुए धीमे से उत्तर दिया – 'भिडन्त होने पर भी अपघात नहीं होगा कोई !'

भाग्य ने यह संभाषण बहुत ध्यानपूर्वक सुना होगा !

विधुर वर कहते ही लड़की को सब दृष्टि से मुश्किल जान पड़ता है। मुझे वैसा बुरा अनुभव नहीं आया। विवाह निश्चित होने पर म्युनिसिपैलिटी के चुनाव हुए। बाबुराव उसमें चुन लिए गए। यह मेरा ही शुभ गुण है ऐसा उन्हें लगा। पहले पहले मुझे उनके बारे में डर लगता यह सच है। छोटे बिल्ली के बच्चे को बड़ी बिल्ली देखकर क्या जान पड़ता होगा वह मुझे उस समय जान पड़ा। परन्तु चार दिनों बाद, वही छोटी बिल्ली बड़ी बिल्ली के साथ बड़ी आत्मीयता से खेल्ती ही है न? मुझे लगता – मुझ पर उनका प्रेम है। गहने-वहने, कपडा-लत्ता, इन सब बातों में कोई कमी नहीं थी। उस पहले बरस में एक दिन भी बाहर जाना उनके लिए कठिन था! वह चाहते थे, मैं सदा आँखों के आगे रहूँ ! मेरा सिर जरा सा दर्द करता होता तो वे डाक्टर को बुला लाते ! मुझे लगता मैं कितनी भाग्यवान हूँ ! पत्नी को फूल के समान रखने वाला पति मिला मुझे।

फूल के समान, यही सच है ! फूल का सौंदर्य टिका रहे, उसकी सुगंध कायम रहे इसलिए आदमी उसे कोमल हाथों से नहीं उठाता है? उनका मुझ पर प्रेम भी ऐसा ही था ! चंद्र के समान सुंदर लगता था मुझे वह उस समय ! आज अनुभव की दूरबीन में से देखने पर उस चंद्र पर की घाटियाँ और पर्वत स्पष्ट दिखाई देते हैं। उनका मुझ पर प्रेम था, परन्तु शारीरिक !

वैसे देखा जाय तो हम दोनों ही पढ़े लिखे थे। उनका पेशा अध्यापकी था। परंतु चंद्रकांत के बोलने में और उनके बोलने में — कितना अंतर था

दोनों में ! रात को हम सात सात घंटे बोलते रहते ! परंतु उनकी सब बातें म्युनिसिपैलिटी, आगे काउंसिल में जाने के बारे में और आंबेगाँव की जमींदारी में लगान वसुली के बारे में होती ! किसी समय बहुत प्रेम में आने पर लड़का होने पर उसे आई. सी. एस. में भेजने के मनोराज्य वे करते ! झूठ क्यों कहूँ ? कल्पना के नक्शे पर वह राज्य देखकर मुझे भी आनंद होता !

मुझे पढ़ने के लिए वे किताबें ला देते। घर में भी तीन चार मासिक पत्र आते ! कभी कभी कोई कहानी या उपन्यास वे भी पढ़ते। परंतु मन से उन्हें पढ़ना अच्छा नहीं लगता ! ऐसे समय मुझे दादा की याद आ जाती। पुस्तक दादा के पंचप्राण थे ! मानो दुनिया का सब भला बुरा उन किताबों पर ही आधारित है ऐसी उनकी श्रद्धा थी। परंतु बाबुराव कहते—'जिन्हें कुछ करना नहीं होता, वे लिखने पढ़ने की बातें करते हैं !'

उन्हें महत्त्वाकांक्षा नहीं थी, सो बात नहीं। उसे साध्य करने इतनी बुद्धि भी थी। परंतु अपने पैरों के आगे की जमीन भी उन्हें नहीं दिखाई देती थी। पहले बरस का ही वह सादा अनुभव —

उनकी शाला में शुरू में प्रार्थना थी। वह सहसा उसमें नहीं जाते थे। किसी मास्टर ने उन्हें चिढ़ाया तो बोले—'मैं तुमसे बेहतर प्रार्थना का कार्यक्रम करके दिखाऊँगा ! एक दो दिन बैठकर कवींद्र की गीतांजली के दो गानों का रूपांतर भी किया उन्होंने !

उस दिन वे पहिली ही बार नई प्रार्थना सिखाने वाले थे। उस दिन सबेरे एक भिखारी की लड़की बंगले के दरवाजे आकर चिल्लाने लगी। उनकी तो प्रार्थना की रिहर्सल चल रही थी। उस लड़की के बदन पर चिल्लाकर वह बोले—'भीख क्यों माँगती है ? हाथ टूट गए हैं क्या काम करने को ?' उस लड़की के कान पर यह प्रश्न हमेशा आता रहा होगा। उसने अपनी बालबुद्धि से एक जबाब तैयार कर रखा था ऐसा दिखाई दिया—

बिना हिचकिचाए वह बोली—'दो न दादा काम !'

तोड़ी हुई लकड़ियाँ ईंधन के कमरे में भरनी थी। वह नन्ही सी लड़की बराबर दो तीन घंटे आँगन से कमरे में और कमरे में से आँगन में जा रही थी। छोटे से प्राण! पसीने से बिल्कुल तर हो गई। काम समाप्त होने पर उसने पैसे के लिए हाथ आगे फैलाया! उन्होंने एक आना उसके हाथ में रख दिया। उसे आशा हुई थी। बंगला काफी बड़ा दिखाई देता था। काम भी कुछ कम नहीं किया था उसने!

दयापूर्ण स्वर में वह बोलने लगी—'दादा'—

'चुप बैठो!' वह चिल्लाए।

'दादा, मेरे घर में बहिन भी " जी!'

'हमें भी हैं। चली जाओ!'

उसके मुख पर से पसीने की धारा बह रही थी। वह शहर में जाने लगी नंगे पैर। धूप बहुत तेज़ थी। मुझे उस पर बहुत रहम आया। परंतु मैं उनके ही कमरे में बिछौने पर लेटी थी। मंदिर में का देवता जिस प्रकार अपने सामने घटित होने वाली चीज़ें चुपचाप देखते रहता है, उसी तरह मैंने यह सब देखा। मुझसे उठा नहीं जाता था। उन्होंने मुझे उठने भी नहीं दिया। और उठती भी तो खुद के काम में दूसरे की की हुई गड़बड़ उन्हें बिल्कुल अच्छी नहीं लगती थी।

कोई कुछ भी कहे, पाँच बजते समय मैं भी बाबुराव की राह देखने लगी। सबेरे की सब बातें जैसे मैं भूल गई। उनकी प्रार्थना कैसी हुई होगी, उनको चिढ़ाने वाले मास्टर का चेहरा प्रार्थना सुनते समय कैसे उतर गया होगा, यही चित्र मैं अपने मन से देख रही थी। सबेरे उस भिखारिन की लड़की को पेट भर खाने को मिला भी होगा या नहीं यह सवाल भी उस समय मेरे को न छू सका।

वह शाला से वापिस लौटे तो कुछ क्रुद्ध मुद्रा से। मेरे बुखार की उन्होंने

ज़रा भी पूछ ताछ न की। कुछ तो भी बिगड़ गया है सो मैं तत्काल भाँप गई। परंतु पूछने की कोई राह ही नहीं थी। आखिर वे खुद ही बोले—'बिल्कुल नाक कुचल दिया सब का उस प्रार्थना ने! परंतु अंत में दूध में नमक का ढेला गिर ही गया।'

मैं समझी, याद किया हुआ ये सब भूल गए। ऐसी फ़जीहत होना बहुत बुरा है! क्या हुआ यह पूछना भी कठिन था। आखिर उन्हें ही खुद अपना गुस्सा उतारना था—'एक लड़का दरवाज़े में से बाहर देखने लगा प्रार्थना के अंत में— मुझे ऐसा गुस्सा आया—प्रार्थना बंद करके उसे सज़ा देना चाहिए अच्छी तरह!'

'क्या क्या लड़के होते हैं स्कूल के भी! स्कूल पर से क्या हाथी और घोड़े जा रहे थे बाहर देखने के लिए?

'वह गधा लड़का—'

मेरे कुछ भी ध्यान में नहीं आया।

'सबेरे लकड़ी भर रही थी न अपने यहाँ वह लड़की—'

'क्या किया उसने?'

'वह जा रही थी रास्ते पर से।'

उसकी तरफ़ देख रहा था वह लड़का? छिः छिः। क्या क्या आजकल के लड़के होते हैं!'

'बाहर के वरांडे में वह आकर बैठी ऐसा सुनते हैं! उसी समय उसे मूर्च्छा आ गई ऐसा वह लड़का कहता है। परंतु मेरा विश्वास नहीं होता उन पर! मेरी प्रार्थना को बिगाड़ने के लिए किसी ने उस लड़के को पहले से सिखा रखा था।'

मेरी आँखों के सामने दूसरा ही चित्र उपस्थित हुआ। चार पैसे के चावल और नमकमिर्च लेकर वह लड़की घर की ओर जा रही होगी। सबेरे से भूखी थी वह। बेचारी से धूप सहन न हो सकी होगी। विश्राम के लिए

वह शाला के वरांडे में बैठी और मूर्च्छा आकर गिर पड़ी। बाहर मूर्च्छित पड़ी लड़की देखने पर उस लड़के का ध्यान प्रार्थना में कैसे रहता?

मेरी आँखों के आगे से यह चित्रपट घूम रहा था। इतने में वह बोले– 'हाँ, भूल ही गया मैं। पत्र आया है तुम्हारा एक।'

उन्होंने जेब में से एक लिफाफा निकालकर मेरे हाथ में दिया। चंद्रकान्त का था वह।

'बंबई से किसकी चिठ्ठियाँ आती हैं तुम्हें?' उन्होंने लिफाफे पर की मुहर देख ली थी यह ज़ाहिर था।

मैंने जरा अकड़कर ही जवाब दिया – 'एक मित्र की।'

'क्या करता है यह मित्र? दादा साहब ने तो कहा था कि बंबई में उनकी विशेष पहचान कोई नहीं है।'

'स्कूल का साथी है यह मेरा।'

'अच्छा! इस प्राणी को याद बहुत रहती है, जान पड़ता है। मुझे तो अपने स्कूल के एक भी साथी का नाम याद नहीं।'

मैं चुप बैठी। फिर उन्होंने वही विषय छेड़ा – 'यह तुम्हारा मित्र विवाह के समय कैसे नहीं आया?'

'उसे लग्न पसंद नहीं है।'

'लग्न नहीं तो क्या विघ्न पसंद है? ज़रा नाम भी तो सुनूँ ऐसे विचित्र व्यक्ति का।'

'जयवंत शिरोड़कर।'

'मराठा या —?'

'मराठा।'

उन्होंने कुछ विचित्र दृष्टि से मेरी ओर देखा। 'ब्राह्मण लड़की का मित्र मराठा लड़का। कुछ दाल में काला ज़रूर है इसमें!' ऐसा मानो वह कुछ कह रहे थे।

उन्होंने इसके बाद मराठों को गालियाँ देनी शुरू की। आंबेगाँव के गँवार किसान सीधे सीधे लगान वसूल नहीं करने देते यह उनकी सदा की शिकायत थी। यह सब किसान मराठों में और एक उपजाति के थे। इसके अलावा ब्राह्मणेतरों पर गुस्सा करने का एक और प्रबल कारण था उन्हें। जब हेड क्लर्क थे तभी ससुर कुछ समय के लिए काम से निकाल दिए गए थे। एक ब्राह्मणेतर कलेक्टर ने उन्हें कैंची में पकड़ा था। ससुर सही सलामत छूट आए आख़िर उस तोहमत में से। उस समय बाबुराव एल. एल. बी. का अध्ययन कर रहे थे। उस तूफ़ान का परिणाम उनके मन पर होकर वह फे[illegible] गए। फेल होने से वकालत का प्रेम छूट गया। मास्टर का काम करने की उनकी इच्छा नहीं थी। परन्तु ससुर का पहिले जैसा महत्व नहीं रहा था। इसके अलावा सरकारी नौकरी में जातवारी की पालिसी बड़े ज़ोरों से शुरू हो गई थी। इसलिए उनका अप्रिय काम—मास्टरी—उनके कर्म में आ बदा।

उनकी गालियों की ओर ध्यान न देकर मैं चंद्रकान्त का पत्र पढ़ने लगी। हमेशा जैसा ही मज़मून था उसके पत्र में! परन्तु उस समय मुझे वह कितना हृदयस्पर्शी जान पड़ा।

'प्रिय उल्का बहिन,

सच्ची कविता कौनसी? तो वह जो किसी भी रसज्ञ को आनन्द दे सके। है न? उसी तरह सच्चा नेता कौन यह प्रश्न पूछा जाय तो क्या उत्तर दोगी तुम? जो अपने समय से कम से कम पचास बरस आगे को देख सके। ऐसा नेता महाराष्ट्र में केवल एक ही हुआ। और वह था आगरकर! कल ही मैंने उनका एक लेख पढ़ा। यह उद्धरण चालीस बरस के पहले एक आदमी ने लिखा है, यह ध्यान रहे!

समाज के तीन वर्ग हैं। पहला वर्ग विचार करने वाले लोगों

का। दूसरा वर्ग विलास करने वाले व्यक्तियों का। और तीसरा काम करने वाले श्रमिकों का ! इन तीन वर्गों के विषय में आगरकर लिखते हैं—

'इस तीसरे वर्ग के लोग मेहनत मज़दूरी करते और आवश्यकता और विलास की वस्तुएँ पैदा करते आए हैं जिनका उपभोग ऊपर के दो वर्ग या मध्यम वर्ग के लोग लेते रहे हैं ! ऐसा आज तक बहुत कुछ अंशों में होता आ रहा है ! तथापि निरपेक्ष बुद्धि से और आस्थापूर्वक परिश्रम किए जाएँ तो यह असमता थोड़े वर्षों में बहुत कुछ दूर की जा सकती है ! इस देश में यह असमता थोडे वर्षों में बहूत कुछ दूर की जा सकती है। जिस देश में यह असमता बढ़ती जा रही होगी, उस देश के पतन का आरंभ हुआ है ऐसा समझिए। जब इस असमता की परमावधि होती है, तभी घनघोर क्रांति होकर समाज के समाज विलय हो जाते हैं, धूल में मिलते हैं अथवा उनमें अभूतपूर्व स्थित्यंतर घटित होते हैं।'

भोले आगरकर। हिंदुस्थान में सिंह बहुत थोड़े हैं यह उनकी समझ में शायद नहीं आया था। थोड़े ही वर्षों में यह विषमता दूर होगी ऐसा उन्होंने सोचा। तब से पूरे चालीस बरस हो गए; परन्तु अभी भी इस राक्षसी के बालों को भी धक्का नहीं पहुँचा।

कवि सुनते हैं, भविष्य वादी होते हैं। ऊपर का उद्धरण पढ़कर, आगरकर कवि थे ऐसा तुम्हें नहीं लगता ?

मिल का अनुभव बहुत लिया। मज़दूरों की स्थिति का पता चला ! अब गाँवोंमें जाकर किसानों के साथ रहा जाय ऐसा लगता है। लाहौर कॉंग्रेस पास आ रही है। देखें क्या होता है। अंधेरा, चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा दिखाई दे रहा है ! शायद वह सवेरा होने से पहले का अंधेरा हो ! परन्तु उसका डर लगता है ! दिशा कब उज्ज्वल बनेगी ?

हाँ, एक मजेदार बात तो लिखना भूल ही गया। तुम्हारे पहले ही इंदु का ब्याह हुआ यह तो तुमने सुना ही होगा। माणिकराव आजकल घर जमाई बने हैं। मुझे बचपन में बामन कहकर चिढ़ाने वाली इंदु ने आखिर में बामन को ही माला पहनाई। तिलक को तिलक भट्ट कहकर चिढ़ाने वाले इंदु की खासी फ़ज़ीहत हुई। उस मिल वाले को आख़िर जाकर भट्ट का ही ससुर बनना पड़ा।

माणिकराव और इंदु का विवाह होने पर दो तीन महिने आकाश के जुड़वाँ तारों की भाँति बिताए। मधुचंद्र कहते हैं न लग्न के बाद के आनंद को? परंतु तीन महिने में ही मधु कडुआ हुआ और चंद्र को ग्रहण लग गया। इंदु गर्भवती बनी। माणिकराव का कहना था कि बच्चा होने से स्त्रियों का सौंदर्य चला जाता हैं! तब गर्भपात कर लेना ही श्रेयस्कर है! इंदु इस पर राज़ी नहीं हुई। इसी बात पर दोनों में बहुत ज़ोरों से विवाद हुआ!

सगुण की रिश्तेदारिन वह स्त्री ही है उनके घर में नौकर। इंदु उसके पास क्या क्या शिकायतें अपने पति की करती है! वह कहती है– 'मेरे पति का अपने मन पर संयम ही नहीं है।' पति भी यही कहता होगा उसके बारे में अपने मित्रों से। यह भी एक तमाशा है। मधु मक्खियाँ एक दूसरे को काटती हैं या नहीं यह मुझे पता नहीं। परन्तु काटती भी हो तो उन्हें वेदना नहीं होती होगी।

और एक बात पूछता हूँ। तुम मुझे मामा कब बनवा रही हो।

तुम्हारा बंधु,

जयवंत शिरोड़कर।'

यह पत्र पढ़ने के बाद बाबुराव के साथ बिल्कुल मौन व्रत धारण करने का मैंने निश्चय किया था। परंतु वे मेरे बिस्तर पर आ बैठे। उन्होंने मेरा हाथ अपने हाथ में लिया और 'अभी उतरा नहीं बुखार?' यह शब्द

उन्होंने ऐसे ढंग से कहे कि—' हाँ उतर जाएगा ! ठंडी हवा का है वह ! ' यह उद्गार अनजाने मेरे मुँह से निकल गए।

घर की चार दीवारों में उस समय सारी दुनिया समाई हुई दिखाई देती थी मुझे। भौंरा बड़े प्रेम से एक निश्चित जगह में गोल गोल घूमता ही है न ? मैं भी वैसी ही घर में रम गई थी। ससुर बिल्कुल बिस्तरे से बँधे, बीमार थे। परंतु फिर भी वे देवपूजा पर बड़ी कड़ी नज़र रखते। फूलों की टोपली फूलों से भरी है अथवा नहीं, सोमवार को बेल के १०८ त्रिदल तोड़े हैं या नहीं ? —— एक न दो, हज़ार तंत्र उनके रहते थे। कभी कभी मुझे बड़ी हँसी भी आती। मैं विधवा विवाह के जोड़े की लड़की ! ऐसे सनातनी ससुर ने मुझे बहू बना भी कैसे लिया ? परंतु ससुर जी के जीवन में यही एक एक पहेली नहीं थी। देवता पर फूल चढ़ाए बिना कभी अन्न न ग्रहण करने का उनका निश्चय था। परंतु नौकरों की बातचीत में, आंबेगाँव के कई खेत और कोई ज़मीनें सौ-पचास रुपयों में उन्होंने अपने हिसाब में जमा कर ली थीं, ऐसा भी सुनाई देता। पचास बरस की उम्र में अपनी बहू के समान लगने वाली लड़की से उन्होंने शादी की। हेड क्लर्क जब थे तब लोगों को उन्होंने कितना तंग किया होगा उसकी कल्पना मुझे बार बार आती। ' बहूरानी, धोती चिन दी है न ठीक से ! ', ' घर में के सब लोग मर गए हैं क्या ? देवता के घर में न दीप न कुछ ! ', 'नौकर भी आजकल बाबू साहब बन गए हैं। ' ऐसे वाक्य उनके मुँह से न निकले हों ऐसा दिन शायद ही बीतता ! अपनी जवानी में वे बिल्कुल बाघ थे ऐसा सुनते हैं, परंतु मुझे इस बाघ का डर नहीं लगता था ! नख, दाँत, दाढ़ें सब कुछ नष्ट हो चुका था इस बाघ का !

सासूजी – वे सौतेली थीं यह कहना पड़ता था औरों को – प्रत्यक्ष देवी के समान थीं। विवाह के समय उनकी आयु अठारह उन्नीस साल की होगी। पचास बरस के दूल्हे से पाला पड़ने पर भी उन्होंने ज़रा भी शिकायत नहीं

की। बच्चा उन्हें कभी हुआ ही नहीं। विवाह के बाद चार बरस हुए और ससुर जी अर्द्धांग पीड़ित होकर बीमार पड़े। गए चार बरस से सासूजी उनकी सेवा शुश्रूषा करती थी। इसलिए मैंने खुले मन से कहा—'मुझे सास अच्छी मिलनी थी, इसलिए आप इस घर में आईं! नहीं तो—'

वह हँसी, परंतु वह हँसी प्रेत पर पहनाए फूलों की तरह मुझे लगी। आँखें पोंछते हुए उन्होंने उत्तर दिया—'सात भाई-बहन थे हम घर पर! चावल की माँड भी पीने को नहीं मिलती थी! पिताजी की हिम्मत नहीं थी मुझे यहाँ शादी में देने की, पर मैंने ही हठ किया।'

'आप ने स्वयं होकर यह जोड़ा पसंद किया?'

'हाँ, सोचा, चलो, मेरे पिता के पीछे उतना ही एक पेट कम हुआ।'

कितनी अभागिनी थी मेरी सास!

परन्तु गहने, बंगला, ठाठ और बाबुराव के सहवास में पहले वर्ष मैं इतनी रंग गई थी कि सासूजी का दुख भी मेरे ध्यान में उस समय नहीं आता था। फिर यह मेरी मौज किसके सहारे हो रही है इस बात का विचार करने की फुरसद भी कहाँ थी। मेरे आनंद को उस समय इस तरह ज्वार चढ़ा था कि एक दिन कविता करने की इच्छा भी हुई मुझे। 'उसके फूल' यह था उस कविता का शीर्षक।

*'भाउजी भाऊ जणुं माझे
मुके तरि तेजें मुख साजे
गंधहीन गुंफिलें कुंतलीं अबोलींचे झेले
भाउजी तसेच मज गमले.*

* भाई जैसे मेरे देवर
मौन किंतु मुख सुंदर था स्वर
गंधहीन फूलों के गुच्छे कुंतल में गूँथे।
वैसे ही मेरे देवर थे!

नाजुक मधुर जुईजाई
हांसती सदा सासुबाई
सौम्य मूर्ति परि प्रेम अंतरीं अथांग भरलेलें
नवल न, मन मोहुनि गेलें.
वन्सं रुसुनि फुगुनि बसती
सुरंगी माळ कळ्यांची ती
उमलल्यावरी गुंगुनि जातील भृंगांचे मेळे
चिमुकलें फूल जरी असलें !
निकडली—बोलुं काय बोला ?
निशिदिनिं गुलाब फुललेला
कांटे त्याचे करिति गुदगुल्या—हृदय पहा फुललें
सुगंधीं नंदन अवतरलें.'

काव्य कैसे निर्माण होते हैं यह इस समय मैं जान सकी। लक़वे से पीड़ित, बिस्तरा पकड़े हुए ससुर जी को मेरी काव्य-सृष्टि से मैंने देश निकाला दे दिया

कोमल मीठी बेला जूही
सास सदा हँसती थी यूँ ही,
सौम्य मूर्ति पर अंतर में का प्रेम अपार भरा
अचरज नहीं, मन हुआ हरा।
ननदिया रूठ गई बाला
सुरंगी कलियों की माला
खिल जाने पर दंग इसी पर होंगे भृंग कई
आज यह नन्ही कलिका नई।
और वे ? क्या कह दूँ बतला !
रातदिन गुलाब ज्यों फूला
उसके काँटे करे गुदगुदी—हृदय देख खिल्ता !
सुगंधी नंदनबन मिल्ता !

था। देवर और ननद मुझे थी कहाँ ? परन्तु वे होती तो अच्छा होता यह मन की इच्छा बहुत थी ! इसी इच्छा से मेरी नई सृष्टि में मैंने उन्हें निर्मित किया 'मेरे फूल' होकर भी कविता को 'उसके फूल' यह नाम दिया मैंने !

यह कविता दादा के पास भेजने में मुझे शर्म जान पड़ी। चन्द्रकान्त के पास मैंने वह भेजी। परन्तु भेजने के बाद मेरी बहुत बड़ी गल्ती हुई ऐसा जान पड़ा मुझे। मन में आया— कितना मज़ाक उड़ाएगा वह मेरा अब ? परन्तु इस कविता का उत्तर चन्द्रकान्त ने भी कविता में ही दिया 'मेरे फूल' यह था उसकी कविता का शीर्षक।

**' सुरंगी-बकुल-पारिजात*
सुगंधी सुमनांची जात
सोडुनि, धुंडीं गंधहीन मीं, असो अधःपात !
नेसुनि नवी निळी साडी
हांसवि उदास ओसाडी
मोरपिसापरि गोकर्णीची कलिका मन ओढी.
झुंबर सुबक झोंकदार
शोभवी तेजाची वार
जास्वंदी जणुं मूर्ति सतीची मोही:अनिवार.

---

* ' सुरंगी — बकुल — पारिजात
सुगन्धी सुमनों की जात
छोड़, खोजता गन्धहीन मैं, घोर अधःपात।
पहिनकर साड़ी नील नई,
हँसाती उदास सारी मही।
मोर पङ्ख से भी बढ़कर यह गोकर्णी की कली !
झूमर बड़े मनोहर लाल
सोहती ज्यों हो तेजोभाल
मूर्ति सती की मानो कैसी अहा जसौंदी माल !

** हांसरा सदा सर्वकाळ*
लाडका धर्णीचा बाळ
सदानंद रवि, भरुनी आलें किती जरि आभाळ.
चुंबिना यांना मधमाशी
रमति न रमणींच्या केशीं
सुखासुखी करि देव न जवळी—तो तर गुल्होशी.
अत्तरें देती जगताला
कशाला हृदयहीन काला ?
संजीवक मधु सुधा लाभते सहज जरी सकलां. '

जिस दिन यह उत्तर आया तब मैं किसी बड़े वकील के यहाँ उत्सव विशेष में जाने के लिए ज़रीन साड़ी पहने हुए बैठी थी। कविता पढ़ी और आईने के सामने जाकर मैं देखने लगी। खून करके आए हुए आदमी को अपने शरीर पर रक्त के दाग़ देखकर क्या लगता होगा इसकी मुझे उस क्षण कल्पना आ सकी। मैंने वह साड़ी एक ओर उतार रखी और सादी साड़ी पहनकर मैं उत्सव में गई।

---

* हँस रहा सदा दूर या पास,
भूमि सुत बारहमासा खास,
सदा बहार कहाया, ऊपर भर आया यद्यपि आकाश !
इन्हें न मधुमक्खी चूमे,
न रमणी के कच में झूमे,
देवता न लाते पास – विदेशी ऐसे फूल रमे !
न देते दुनिया को जो इत्र
हृदय-हीन ओ काल विचित्र
मधुर सुधा क्यों मिली इन्हें यों सहज कहो हे मित्र !

२५

विवाह का पहला वर्ष-दिन बड़े ठाठ से मनाने का बाबुराव ने निश्चित किया। परंतु उसी दिन पहला स्वातंत्र-दिन मनाया गया। लोगों में वीरता की भावना संचारित हुई। मुझे भी लगा, सिर्फ मीठे मीठे पकवान बनाकर खाने में क्या रखा है? देश के लिए भी कुछ करना चाहिए न हमें!

इस विषय पर कितना विवाद हुआ हम लोगों में! उनकी महत्त्वाकांक्षा थी काउन्सिल में चुनकर आने की! उनके हेड क्लर्क पिता ने उस बात का बीज बचपन से उनके मन में भर रखा होगा! काउन्सिल में चुनकर आने के लिए चाहिए खूब पैसा! इसीलिए पैसा होने पर भी उन्होंने अब तक अपनी मोटर नहीं रखी थी! वह कहीं मित्र मंडली में ताश खेलने या गाना सुनने के लिए चले जाते तब अकेली पड़ी पड़ी मैं विचार करती। ऐसे समय उस बंगले में कैसा कुंठित सा होता। उस दिन वाद विवाद होने का ऐसा ही कारण हुआ! पड़े पड़े मुझे उस ग़रीब धीवर के लड़के की याद आ गई। इतने में वे बाहर से आए। मेरे चेहरे की ओर दृष्टि जाते ही वह बोले—
'चिंता कर रही हो सारे देश की स्वतंत्रता की?'

'एक आदमी को सुखी नहीं कर पाती। वहाँ समूचे देश की —'

'कौन कहता है ऐसा? मेरा नाम लोगी तुम! या आदमी ही नहीं हूँ मैं?'

हम दोनों हँसने लगे। परन्तु कुछ भी कहो, वह बात मेरे मन से न जा सकी। मैंने उस बच्चे की सारी कहानी उन्हें सुनाई। उनके चेहरे पर कोई अंतर न हो सका।

'ग़रीब बेचारे का भाग्य!' वह बोले।

'फिर भाग्य के सहारे काउंसिल में जा सकेंगे। उसके लिए इतनी उठा-पटक क्यों?' मैंने ज़रा चिढ़कर ही कहा।

'जब देखो तब तुम्हारा काउंसिल पर कटाक्ष होता है। गांधी की शिष्या ही हो बड़ी। काउंसिल में नहीं जाना तो फिर करना क्या?'

'आंबेगाँव में जाओ, वहाँ के किसानों का सुधार करो!'

'कहाँ से तुम्हारे सिर में यह पागलपन भरा है? किसानों का सुधार करो! उन लोगों की योग्यता ही उतनी ही है। गधे को सिंगारने से वह घोड़ा थोड़े ही बन जाता है!'

इस वाक्य का मुझे ऐसा गुस्सा आया। बचपन के बाद की सब बातें मेरी आँखों के सामने आ गईं। दादा, चन्द्रकान्त, निरा, सगुण, यह सब गधे! क्योंकि उनके पास पैसा नहीं है। इंदु का बाप, इंदु की माँ, वसन्त, माणिकराव, और मेरे पति यह सब बिल्कुल इंद्र के ऐरावत!!

मैं कुछ भी बोलती नहीं यह देखकर वे कुछ नरमाई से बोले—'आंबेगाँव को तुझे ले नहीं गया इसीलिए; वरन् चार दिन में वहाँ से ऊब जाओगी तुम!'

'एक बार चलेंगे ही!'

'धरा क्या है उस उजाड़ ग्राम में!'

'उसी उजाड़ ग्राम में से दो हज़ार की आय होती है न हमें?'

वह जरा चौंके। 'वह बात मैं नहीं कहता! नदी के एक ओर सारा गाँव। दूसरी ओर अमराई! यही वहाँ का प्रकृति-सौंदर्य है।'

'होगा। मैं तो नदी पर जाकर पानी में पैर डाल कर बैठूँगी।'

'किसी ने पीछे से आकर धकेल दिया तो? देहात के आदमी बहुत बुरे होते हैं, समझी?'

'किसी ने नदी में मुझे धकेल भी दिया तो तुम खींचोगे मुझे ऊपर।'

'मुझे कहाँ आता है तैरना!'

'फिर डूब जाऊँगी मैं!'

'वाह! आंबेगाँव में मरने के लिए जाने की बात हमें मंजूर नहीं है!'

उस दिन मैं ज़्यादह नहीं बोली । उनके क्रोधी स्वभाव की सासूबाई ने मुझे पूरी कल्पना दी थी । इसलिए स्वर ज़रा सँभलकर ही तानना ठीक था।

परन्तु दूसरे ही दिन वसंत हमारे घर आया ! उसके साथ निरा भी थी।

आंबेगाँव के बारे में हमारे कोर्ट-कचहरी के सब काम वसंत ही करता था। इस बार वह कहीं की ज़ब्ती के बारे में पूछने के लिए आया था । उन दोनों की बातें चल रही थीं, तब मैंने बीच में ही जाकर कहा–' न लाए ज़ब्ती तो क्या होगा ? '

' वाह, सब अकड़ जाएँगे कुनबी ! कल गाँव में से एक पाई भी लगान वसूली नहीं होगी ! ' वसंत ने कहा ।

' वसंतराव, इसे इस बंगले में रहना तो चाहिए। गहने चाहिए, कल मोटर मिली तो वह भी चाहिए। परन्तु खेतीहरों पर लाई हुई ज़ब्ती नहीं चाहिए ! कैसा है यह औरतों वाला तर्कशास्त्र ! '

मुझे अपने ऊपर उस समय बहुत क्रोध आया ! लगा – निरा की भाँति मैं भी क्यों नहीं ग़रीबी में रह सकती ? '

निरा से बोलने के लिए मैं नीचे गई। मैंने उसके चेहरे की ओर बारीकी से देखा। मुझे लगा था कि पति की चिंता के मारे वह बिल्कुल सूख गई होगी। परंतु देखा तो सभी उल्टा था। निरा का चेहरा पहले से भी अधिक सतेज दिखाई दे रहा था ! उसके शरीर पर की साड़ी भी नई सी थी बिल्कुल ! मैंने ध्यानपूर्वक देखा—उसके ओठ पान खाने से रंगे हुए थे—और क्षण में मेरे मन में प्रकाश ने प्रवेश किया ! वसंत–निरा !!

मेरे मन में न जाने कैसे कैसे विचार आए। बाबुराव ने ऊपर बुलाया न होता तो साफ़ साफ़ मैंने निरा से कुछ पूछा भी होता। मेरे ऊपर आते ही उन्होंने मुझसे कहा—'गाँवकर की औरत सुना तुम्हारे ही गाँव की है।

' हाँ ! '

'उसकी आँखें तो गई ही थीं। अब उसे महारोग (कोढ़) हो गया है ऐसा सुना मैंने!'

'अरेरे!'

'लोग उसे उस गाँव में रहने भी नहीं देते!'

'फिर?'

'वसंतराव कहते हैं— नदी के पार हमारी अमराई में एक झोंपड़ी उसे दे दी जाय। उसकी औरत को एक दूसरी झोंपड़ी बना देने से वह भी पास में ही रहेगी। साथ ही उसके खाने-पीने की भी कुछ व्यवस्था करनी ही चाहिए। कुछ भी हुआ तो भी अपने ही आदमी हैं!'

वसन्त के मन में गरीबों के लिए प्रेम का इतना स्रोत कब से फूटा यह मेरे ध्यान में आया। परन्तु तब का मेरा क्रोध अब एकदम खिल्म गया। मेरे पति मैं समझती थी इतने निर्दय नहीं हैं। उनके भी हृदय में ग़रीबों का दुख देखकर कभी कभी झरना फट जाता है। आज नहीं तो कल इनका मन अपनी तरफ़ खींचकर मैं कई काम उनसे करवा लूँगी इसी आनन्द में मैं मगन थी।

● ● ●

'अगले चार महीनों में कई अजीब बातें घटित हुईं। महात्मा गांधी नमक-सत्याग्रह करने के लिए दांडी से मार्च में चलने वाले थे। उस यात्रा में शामिल होने के लिए चन्द्रकान्त भी बम्बई से गया। जाते जाते उसने मुझे लिखा—

'प्रिय उल्का बहिन,

गांधी जी के क़ानून तोड़ने के आंदोलन में भाग लेने के लिए मैं जा रहा हूँ। इस आंदोलन में से क्या निष्कर्ष निकलेगा वह तो मैं स्वयं ही नहीं जानता। परन्तु मैं हूँ रक्त और अस्थि तक सिपाही! युद्ध का डंका बजने लगते ही मैं चुप बैठा नहीं रह सकता। इस

आंदोलन में सरकार शायद कुछ अधिकार भारतीय जनता को देगी। परन्तु उससे ग़रीबों की माँगें पूरी हो सकेंगी? अभी तो अधपेट मेहनत मज़दूरी करना ही उनका जन्मसिद्ध अधिकार बन चुका है।

परसों एक कहानी पढ़ी। 'वकील या शिक्षक?' उसका नाम था। लेखक का नाम था खांडेकर। शायद नाम से तुम उन्हें जानती होंगी। वकालत का पैसा पाप का है ऐसा उस कहानी में बताया गया है। मुझे लगा कि यह लेखक मास्टर हों भी तो भी, कहानी लिखते समय ज़रूर वकील बने थे। वकील का पैसा पाप का होता है और मास्टर का, व्यापारी का, साहूकार का, ज़मींदार का? पाप-पुण्य की हमारे लेखकों की कल्पनाएँ जहाँ इतनी संकीर्ण हैं वहाँ साधारण जनता के संबंध में क्या कहना है? मुझे लगता है कि बिना मेहनत की हर एक पाई पाप की ही होती है! यह मरा हुआ अन्न जो खाते हैं उनका हृदय भी मर जाता है!

अब कब होगी भेंट? कब, कहाँ और कैसे देखेंगे? संसार को नाटक कहते हैं न! तब नाटकीय संयोग से ही शायद भेंट हो!

अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान रखना और ग़रीब के लिए जो कुछ भी कर सको, करने का यत्न अवश्य करना।

और क्या लिखूँ?

तुम्हारा बंधु,
जयवंत।'

मार्च महीने की वह रात! बेलगाँव की हवा बहुत ही अच्छी होती है इन दिनों में। पूनम को अस्तमान सूर्य और ऊगता चाँद देखने में बड़ा आनंद आता है। सच है न? धीरे धीरे दूर जाने वाला शीतकाल और पास आने वाली ग्रीष्म-ऋतु का संगम भी वैसा मनोहर होता है।

परन्तु उस रात को मेरी आँखें क्षण भर भी न झिपकीं! उन्हें तो कभी

की गहरी नींद आ गई थी। मेरे मन में एक से विचार आ रहे थे। महात्मा गांधी कल सवेरे दांडी को सत्याग्रह के लिए जाएँगे, चंद्रकांत भी जाएगा, और मैं – मैं क्या करूँगी ?

रात को ही नक्षत्र क्यों चमकते हैं यह तब मैं समझ सकी। अंधेरे में सकपकाए मेरे मन के आगे अनुभव के चित्र कितने स्पष्ट उपस्थित हुए। दादा और चंद्रकांत का मन वसंत, माणिकराव और मेरे पति से इतना भिन्न क्यों है ? इंदु और मैं एक ही उम्र की, एक ही स्कूल की पढ़ी हुई – परन्तु माणिकराव के साथ कोई सिनेमा देखकर आकर अब वह चुपचाप सोई होगी ! मुझे नींद नहीं आ रही थी। इन सब आदमियों को मन ही नहीं होते हैं क्या ?

ऐसा कैसे हो सकता है ? मेरे पति का पिता पर, सौतेली माँ पर और मुझ पर क्या कम प्रेम है ? हमारे लिए वे हज़ारों रुपये खर्च करेंगे। वे संकीर्ण हृदय वाले नहीं हैं, दुष्ट नहीं हैं – परन्तु – परन्तु उनमें चंद्रकांत, दादा – और बड़ा नाम लूँ तो – गांधी – इनमें से किसी का भी गुण नहीं है !

यह अंतर क्यों होता है ? मैं चंद्रकांत की आर मेरे पति की मन में तुलना करने लगी। चंद्रकांत को बचपन में दूध पीने को मिलता था या नहीं यह निश्चित नहीं; परंतु बाबुराव चांदी की चुसनी से दूध पिए हुए थे चंद्रकांत का बाप सामान्य पुरोहित और मामा साधारण होटलवाला था। ऐसे लड़के को पेट कैसे भरेगा यही चिंता सबसे बड़ी जान पडती थी। मेरे पति का क्या ! उनके पिता थे हेड क्लार्क ! बचपन से ही ' बाबू, तू कौन बनेगा ? ' इस प्रश्न का ' कलेक्टर ' यह उत्तर उन्होंने रट रखा होगा ! ग़रीबी के कारण चंद्रकांत को अपनी जन्मदात्री माँ के प्रेम की कोमलता का अनुभव तक नहीं मिल सका होगा इसलिए दादा ने और मैंने उसकी ओर दिखाया प्रेम भी उसे कितना अपूर्व जान पड़ा। मेरे पति के

हृदय में कृतज्ञता का अंकुर बढ़ने का मौका ही नहीं मिला होगा। बचपन से ही नौकर वगैरह हाथ जोड़कर सेवा में तैयार रहते। पैसा तो क्या, वह तो घर में पानी की तरह खर्च होता था। यह सब अपने अधिकार का है, ऐसा जानने वाले बच्चे का मन भी बड़ी उम्र में वैसा ही नहीं रहेगा क्या?

पैसा सिर्फ शराब ही नहीं तो क्या है? दवा के लिए जैसे शराब का, वैसे ही व्यवहार चलें इसलिए पैसे का उपयोग किया जाता है! परन्तु औषध के रूप निर्माण हुई शराब ने आज दुनिया में अनर्थ मचा रखा है! समाज की सुविधा के लिए निर्मित पैसा भी वैसा ही नाच नचा रहा है। इसे रोकेगा कौन? मेरा चंद्रकांत —

लोग हँसेंगे। पातिव्रत्य के पुराण सुनाने वाले मुझे पापी कहेंगे। कहने दो! मैं कोई पत्थर की देवी नहीं हूँ! हाड़माँस की मानवी हूँ। मेरा चंद्रकांत कहते हुए मेरे मन में मुझे आनंद हुआ। मेरा चंद्रकांत – एक क्षण में मेरी आँखों के सामने का मोह का पर्दा दूर हुआ। चंद्रकांत मेरा होता तो, तो मैं आज बेलगाँव के किसी बंगले में सुंदर पलंग पर तिलमिलाती हुई नहीं पड़ी रहती। ना! सवेरे जल्दी उठकर दांडी को जाने के लिए, कभी की सो गई होती, और–

मन की वेदना इस विचार से और भी बढ़ गई।

सब ओर शांति थी; परन्तु मेरे हृदय में जैसे आग लगी थी। मैंने खिड़की के पास जाकर देखा। क्षण भर मन में विचार हुआ — अंग्रेज़ी नाटक और उपन्यासों में ऐसी घटनाएँ होती हैं न? खिड़की में प्रेयसी खड़ी है, खिड़की के नीचे उसका प्रियतम गाना गा रहा है। यदि मेरा चंद्रकान्त भी इस समय खिड़की के नीचे खड़ा रहता तो मैं तुलसीदास की तरह साँप की डोर बनाकर नीचे उतर जाती!

मेरे पति ने करवट बदली। चंद्रकान्त इस समय क्या कर रहा होगा? बाबुराव ने आँखें खोलकर देखा होगा। उन्होंने जमुहाई लेते हुए पूछा 'अभी भी जग रही है तू, क्यों?'

'हाँ!'

'क्या कर रही है?'

'देखती खड़ी हूँ!'

'क्या देख रही है — अँधेरा?'

मेरे हृदय में प्रकाश पड़ा था। बाबुराव की मैं धर्मपत्नी थी। परन्तु मेरा मन चंद्रकान्त से अधिक जुड़ गया था। परन्तु अब — अब क्या उपयोग था!

और पहले भी क्या उपयोग होता!

चंद्रकान्त की बातों से क्या वह स्पष्ट नहीं था कि उसका प्रेम कल्पना पर ही है?

●●●

मई महीने के आरंभ में मुझे कै होने लगी। विवाह होने के बाद कई बार मैं दो चार दिन के लिए दादा से मिलने गई थी। परन्तु हवा बदलने के लिए इस बार पीहर में अधिक दिन रहने का मैंने निश्चय किया। मैं दादा के पास आई और दो चार दिन में ही शिरोड़ा में सत्याग्रह शुरू हो गया। मैं दादा के साथ वह देखने गई।

शिरोड़ा के सत्याग्रह के वे चार दिन मैं कभी भी नहीं भूलूँगी। चार पांच सौ स्वयंसेवक, हज़ारों दर्शक, लाठीमार— कितनी बातें मेरी नज़र में आईं! लाठीमार जिस दिन हुआ उसी दिन शिविर में मैं और दादा गए थे। एक चौदह पन्द्रह बरस का, खानदेश का या न जाने कहाँ का लड़का बेहोश होकर चिल्ला रहा था। खूब मार पड़ी थी उसे और इसलिए उसका बदन बुख़ार से गर्म हो गया था। 'अरी माँ रे! वंदे मातरम्!! हाय! लूटो नमक!!' यह उस बेहोश बच्चे के बुख़ार में शब्द सुनकर आँसुओं के साथ ही साथ एक तरह का उत्साह मेरे मन में संचारित हुआ। परन्तु दूसरे ही क्षण लगा — चन्द्रकान्त अब इस जीवन में शायद ही दिखाई देगा।

शिरोड़ा से हम अपने गाँव वापिस आए ! उस समय आंदोलन की हवा सब ओर फैली थी ! हमारे गाँव में कुछ तरुण लड़कों ने क़िले पर तिरंगा झंडा लगाया, पुलिस उसे बार बार निकाल डालती और बच्चे उसे छिपकर लगाते, ऐसा दो चार बार हुआ। क़िले के नाम का रूपांतर 'स्वराज्य गढ़' बन गया। पुलिस ने ब्रह्मेश्वर के मंदिर से क़िले तक जाने वाले रास्ते पर पहरा लगा दिया। जाने आने वाले हर आदमी की ख़ाना-तलाशी होती !

बच्चों का आन्दोलन समाप्त हुआ। राष्ट्रीय झंडे की पराजय हुई यह खुले आम दिखाई देने लगा। गाँव में इंदु का बाप गया था। वह 'बंबई में इस आंदोलन में मैंने हज़ारों रुपये बलिदान दिए !' ऐसी लम्बी चौड़ी हाँकने लगा। परन्तु झंडा लेकर निश्चित सीमा से बाहर जाने की किसी की हिम्मत ही नहीं होती थी।

रात के बारा बजने पर मैं सहज जगी। देखा तो दादा बिछौने पर जगे हुए बैठे हैं। फिर मेरी आँखें मूँदी। परन्तु दादा जगे हुए हैं यह बात किसी तरह मन में से नहीं जा रही थी। दो एक बजे होंगे। मैंने आँखें खोलकर देखा तो दादा कुछ लिखते हुए बैठे थे अपने कमरे में ! मैं जानबूझकर जगती रही। दादा बिस्तर पर आकर सोए ! उन्हें नींद लगी है यह देखकर मैं धीमे से उनके कमरे में गई। टेबल पर दो कागज़ लिखे पड़े थे। एक पर 'सहगमन' नाम की कविता लिखी हुई थी, जिसका आशय था—

*'*हुरहुरे स्मरुनि मन तव चरणां*
थरथरे बघुनि तनु परि मरणा ॥ धृ० ॥
साधी भोळी सैनिकरमणी
चढे चितेवर हांसत नयनी

---

* 'मन तुम्हारे चरण देखकर आकुल हो रहा है।
परन्तु शरीर तो मरण को देखकर सिहर रहा है !
'सादी भोली सनिक रमणी तो चिता पर हँसती

* दूर उभी मी, असुनी राणी
कथुं तळमळ आंतिल कशी कुणा ?
मंचकावरी जणुं निद्रित वर
जवळी जाई बाला आतुर
विनविन अनला ' द्वैत दूर कर. '
लाधेल धीर हा कधीं मना !
तुझ्यासवें मन माझें रमणा
देहाचा परि बंध तुटेना
राघू गगनीं, पंजरिं मना
मग संगम दुर्लभ दयावना !
चिता भडकल्या किति भंवतालीं
धडधडत्या ज्वालांच्या तालीं
स्वर्ग गातसे, मी पाताळीं
शोधितें अंधतामिं मम किरणा !
ज्वाला नच या विजयपताका
पतिव्रताबल दाविति लोकां
फडफडुनी जरि मारिति हांका
पद पुढें पडेना भिउनि रणा
पोटीं घालुनि हें दुबळेपण
मला आपुली तूं राया म्हण
स्वर्गी जाऊं नको मला विसरुन
बघ पदर पसरिला, करिं करुणा. '

और- · और दूसरे कागज़ पर दादा ने स्कूल का इस्तीफ़ा लिख रखा था।

---

* आँखों से चढ़ जाती है और मैं रानी होकर के भी दूर खड़ी हूँ। मैं अपने मन की व्यथा किसे कहूँ और कैसे कहूँ ! '

सबेरे दादा ने कहा– 'उल्का, आज तुझे बेलगाँव भेजने की बात सोच रहा था मैं !'

'आज ? मैं तो तीन चार महीने पीहर रहने के लिए आई थी।'

'छुट्टी लेकर प्रवास पर जाने का मन होता है मेरा !'

सुनी अनुसनी करके मैंने कहा– 'कितनी छुट्टी लेंगे ?'

* 'मंचक पर मानो निद्रित, ऊपर, आतुर बाला पास जाती है। वह मानो आग से विनती कर रही है—'द्वैत दूर करो !' मेरे मन में यह साहस कब आवेगा ?

'तुम्हारे साथ ही हे रमग, मेरा मन भी है। परन्तु देह के बंध नहीं छूट रहे हैं। गगन में तोता है, मैना पिंजड़े में है ! हे दयाघन, दोनों का मिलना दुर्लभ है !

'चिताएँ आसपास कितनी सुलग रही हैं। इन चटचटाती ज्वालाओं के ताल में स्वर्ग गा रहा है। मैं पाताल में अंधतम में अपनी किरणों को खोज रही हूँ।

'यह ज्वालाएँ नहीं हैं। यह विजय पताकाएँ विश्व को पतिव्रता का बल दिखा रही हैं ! वे फहरा फहराकर बुला रही हैं। फिर भी रण से डर कर कदम आगे नहीं बढ़ते।

'इस दुर्बलता को क्षमा करो। हे साजन, तू मुझे अपनी कह ! मुझे स्वर्ग में मत भूल जाना। मैंने आँचल फैला दिया है। करुणा करो।'

'जितनी मिलेगी ! शायद छः महीने की मिले ! शायद साल भर की भी –'

'प्रवास की तकलीफ़ तुम्हें सहन होगी ?'

'न सहन होने को क्या हुआ ? शाला की इतने बरस तक नहीं सही केल ?'

'मैं भी आती हूँ तुम्हारे साथ !'

'ना, ना ! यह क्या कुछ उलटा सीधा कहती हो ! बाबुराव मुझे पागल कहेंगे। तू है अब मेरे जीव की ! मेरा क्या ? अकेला जीव– सदाशिव !

दादा ने बहुत लुका छिपी करके देखा। परन्तु अंत में उन्हें सब क़बूल करना ही पड़ा। मैंने दूसरे दिन बेलगाँव जाना स्वीकार किया। उस दिन तीसरे पहर दादा राष्ट्रीय झंडा लेकर निश्चित सीमा के पार गए। पुलिस उन्हें पकड़कर थाने पर ले गई। शाम को शून्य मन से मैं बैठी थी। किसी ने अखबार लाकर दिया था। पढ़ रही थी। चंद्रकान्त को डेढ़ बरस की कड़ी सजा मिली थी।

उस दिन पहली बार समूचे जीवन में अकेली मैं रह गई। साथ में किसी को बुलाया होता तो कोई भी आता। परन्तु मुझे साथी नहीं चाहिए थे। माँ, दादा और चंद्रकांत की याद करती हुई मैं बड़ी देर तक बिस्तरे पर लेटी रही। एकदम मेरे मन में कल्पना आई – दादा को पकड़ा ! कल झंडा कौन ले जाएगा ! चंद्रकांत डेढ़ बरस तक पत्थर तोड़ता रहेगा ! और मैं – मैं बेलगाँव में पति से मीठी मीठी बातें करती हुई – या आंबेगांव के खेतीहरों के शोषण के आधार पर शालू पहन कर बड़ी सजधज में जीवन बिताऊँगी ! वह किसलिए ? लड़की की जाति – ना ! गड़करी का वह वाक्य याद आया– 'बेटी, कुछ नाम सार्थक हो ऐसा करना जीवन में !'

आज तीन बरस बाद मैंने जो कुछ किया उसमें नाम लेने लायक कुछ भी नहीं था ऐसा मुझे लगा। परन्तु भावना गांधारी के समान होती है। आँखें रहते हुए भी वह अंधी की तरह रहती है !

दूसरे दिन दादा के कहने के अनुसार घर की व्यवस्था करके मैंने झंडा हाथ में लिया और क़िले की राह पकड़ ली। पुलिस ने मुझे पकड़ा और थाने पर ले गई।

दादा कितने नाराज़ हुए मुझ पर!

दादा ही क्यों? मैं स्वयं अपने ऊपर क्रुद्ध हुई! चंद्रकांत का क्या? वह तो अकेला था। परन्तु मेरा तो विवाह हुआ था! मैंने जो यह किया वह मेरे पति को बिल्कुल अच्छा नहीं लगेगा यह निश्चित था! खद्दर का टुकड़ा उन्होंने कभी कसम खाने के लिए भी नहीं पहिना था। फिर अपनी स्वयं की स्त्री का किया हुआ क़ानूनभंग उन्हें कैसे रुचेगा?

मैंने तो दोहरा क़ानूनभंग किया इस बात का मुझे ख़याल हुआ। सरकार का क़ानून तोड़ने पर अधिक से अधिक मुझे चार छः महीने की सज़ा होगी। परन्तु पति की इच्छा के विरुद्ध मैंने सब कुछ किया, इसकी सज़ा? शायद वे मुझे फिर घर में भी नहीं लेंगे। नौकरशाही और पतिशाही! मेरा मन एकदम घबड़ा गया। सरकारी अधिकारियों से मैत्री करके और बड़े लोगों को खुश करने के लिए पानी की तरह पैसा खर्च करके वे काउंसिल में जाने की अपनी इच्छा पूरी करने वाले थे। उनका काउंसिल और मेरी जेल-इन से तो दो ध्रुवों में भी कम अंतर होगा।

स्त्री का जीवन पुरुष पर कितना अवलंबित रहता है इसकी मुझे उस क्षण कल्पना आई। जीवन क्या? रंगबिरंगा पतंग ही था वह! पतंग आकाश में डोलने लगता है तो बड़ी मौज जान पड़ती है। परन्तु वह अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जहाँ कहाँ जा सकता है? जिसके हाथ में पतंग की डोरी हो उसकी इच्छा सच्ची है। उसने डोर खींची कि वह एकदम नीचे खींचा आया। स्त्री के गले का मंगलसूत्र और पतंग की डोरी में फ़र्क़ ही क्या है? गड़बड़ से डोरी की पकड़ने में से वह छूट गया तो! तो भी क्या—हवा पर सब कुछ इतराना है!

मैंने किया उसमें बुरा क्या था ? जेल की यातनाएँ मैं झेलने वाली थी ! वहाँ का बुरा अन्न मेरे पति की थाली में नहीं जाकर गिरने वाला था। परन्तु – परन्तु क्या ? स्त्री स्वतंत्र नहीं ! वह पैसा कमाती नहीं इसलिए उसकी सत्ता नहीं। मेरी आँखों के आगे एक माला सी खड़ी रही – स्त्री, मजदूर, किसान, अछूत ! सभी परतंत्र ! क्योंकि उन्हें पैसा नहीं मिलता। उन्हें पैसा क्यों मिलता नहीं ? मिले भी कैसे ? पैसे से ही पैसा मिलता है ! पैसा नहीं, इसलिए ज़मीन नहीं, साहूकारी नहीं, शिक्षा नहीं, बड़े वेतन की नौकरी नहीं, कुछ भी नहीं। एक है सिर्फ़ – गुलामी – पुश्तैनी पीछा करने वाली गुलामी !

लेकिन मुझ पर मुक़दमा चला उस दिन यह विचार कुछ निस्तेज हुए ! कै के मारे अन्न पेट में नहीं जाता था। परन्तु उलटी के समय प्राण कितने भी घबड़ाए तो भी मैं माँ बनूँगी इस मधुर कल्पना से शरीर बिल्कुल फूला नहीं समाता। कोर्ट में आने पर वह आनन्द नहीं बचा रहा। मुझे सज़ा होगी ही ! जेल से छूटने पर बाबुराव ने मुझे छोड़ दिया तो ? 'माँ' यह मीठी पुकार जिस मुँह से मुझे सुनने को मिलेगी, उसे दूध तो पिलाना चाहिए। उसकी दवादारू, कपड़े–लत्ते, शिक्षा यह सब पैसे के बिना कैसे होगा ? दादा की तो अब बुढ़ौती हो चली। उसमें वे तो स्कूल का इस्तीफ़ा भी दे चुके थे। मैं घर आ रही हूँ ऐसा देखकर बाबुराव ने यदि दरवाज़ा बंद कर दिया तो मेरे बच्चे को लेकर क्या मैं दर दर भीख माँगू ?

सच कहूँ ? माफी माँगने का विचार मेरे मन में आया। घर के सारे दरवाज़े बंद किए तो भी हवा अंदर आए बिना थोड़े ही रहती है ! मन बहुत पक्का भी किया तो भी दुर्बलता के विचार वहाँ ऐसे ही आते हैं। माफी माँगकर छूटने का विचार मन में आया त्यों ही बचपन की याद आ गई। इस्तीफ़ा देने का मौका आया था फिर भी दादा ने इंदु के बाप की माफी नहीं माँगी थी। दादा का जीवन कितने त्याग का ! जीवन भर उन पर

घाव हुए। वे उन्होंने सीने पर झेले। परंतु गर्दन न झुकने दी। ऐसे बाप की मैं लड़की। मैं माफी माँगूगी ? छिः !

दादा के बाद चंद्रकांत की मूर्ति आँखों के सामने आ गई। वह आजीवन कष्ट ही सहते नहीं आया था क्या ? शाला में कितने साहस से उसने बेंतें खायी थीं। मुल्सी सत्याग्रह में वह जेल में गया — मिल में मज़दूरों की भाँति रहा ! चंद्रकांत के साथ ही साथ कल्पना की भी याद आ गई ! उसने पाँच वर्ष की सज़ा भी सहर्ष स्वीकार कर ली। उसने गुनाह किया था और क़ानून की दृष्टि से क्या मैंने नहीं ? ना, माफी नहीं माँगूँगी।

दादा को और मुझे दोनों को छः छः महीने की सज़ा हुई। दादा ग़रीब मास्टर ! उन्हें 'सी' क्लास मिला ! मुझे बहुत बुरा लगा। उसमें भी आनंद की बात यह कि मुझे पाँच सौ रुपये जुरमाना हुआ। जैसा हाथी का खाना वैसा ही बड़ा उसका अंकुश !

जेल के छः महीनों में मुझे जो अनुभव मिला वह बेलगाँव के बंगले में जीवन भर भी न आता। कुछ कुछ देशों में फ़ौजी शिक्षा अनिवार्य होती है न ? उसी तरह हमारे देश में जेल में जाना भी वैसा ही अनिवार्य कर दिया जाय तो कितना अच्छा होगा ! शाला, व्याख्यान, नाटक, किसी भी चीज़ से जो काम नहीं होगा वह इस शिक्षा से होगा। हिमालय की बर्फ़ जब तक शिखर पर है तब तक ही सुंदर जान पड़ती है। वह पिघलकर समुद्र में जा गिरी कि आप से आप उसका खारा पानी हो ही जाता है।

'सी' क्लास के स्त्रियों की और मेरी धीरे धीरे पहचान होने लगी। हरेक का जीवन सुनते सुनते मुझे नई दृष्टि प्राप्त होती। बेलगाँव के बंगले में बाबुराव की ब्याहता बनी, बनठनकर बेखटके रहने वाली मैं। उन स्त्रियों के इतिहास सुनकर दुनिया के बारे में मेरी किताबी कल्पनाएँ एकदम बदल गईं। हम आरामतलब सफेदपोश लोग ! हमारे कलावन्त विलासी लेखक ! हमारे मुँहफट व्याख्यान देने वाले वक्ता और अख़बारनवीस ! हम सब, समाज को

जो देखते हैं सो साधारण आँखों से। उस समाज का शरीर आरपार भेदकर जाने वाले 'क्ष' किरण हमारे पास कहाँ होते हैं?

उन स्त्रियों में एक चालीस बरस की अछूत स्त्री थी। सत्याग्रही बनकर वह जेल में आई थी। उसका पीहर आंबेगाँव में ही था ऐसा सुनते हैं। सत्याग्रह का तत्त्व उसे जँचा ही कैसे इसका मुझे पहले आश्चर्य जान पड़ा। उसने सारी कहानी सुनाई! पति शराबी, बच्चों को कभी कभी माँड भी पीने को नसीब नहीं होती! ऐसी स्थिति में, आंदोलन में जेल यदि वह गई तो उसे माहवार पाँच रुपये की सहायता मिलेगी ऐसा उसे किसीने कहा। पति के हाथ में पैसे नहीं जाएँगे ऐसी व्यवस्था करके वह जेल में आई! वह जीवन भर जेल में रहना पसंद करती। क्यों कि 'सी' क्लास का अन्न भी उसे घर पर कहाँ मिलता था?।

उन स्त्रियों में बालहत्या करने के अपराध पर जेल में आई हुई एक ब्राह्मण बाल-विधवा भी थी। उसके बाप का पेशा देहात में साहूकारी करना था। एक सहायक के नाते एक पुरोहित उसने घर में पाल रखा था। बाप की उम्र थी पचास बरस की। फिर भी उसे बच्चे होते ही जाते थे। बारह बरस की अवस्था में बाल विधवा बनी इस लड़की का मुख्य काम था उन बच्चों को सँभालना। दिन भर काम में बीतता, फिर भी रात उसे भयानक जान पड़ती। वह खुली आँखों से बाहर के अंधेरे की ओर देखती रहती। वह पुरोहित बीच बीच में उनके घर में टिक जाता। धीरे धीरे उसने जाल फैलाया। यह उस में फँस गई। पाप खुलने की नौबत आते ही गाँव में बे आबरु होगी इस डर से माँ ने उसे ज़हर दिया। वह ठीक से नहीं लगा। प्राणों के डर से एक दिन वह घर छोड़कर बाहर गई। परन्तु घर की मिट्टी की दीवारों के बाहर आकर उनसे देखा। जहाँ देखो वहाँ पत्थर की दीवारें! बच्चा हुआ, तब घबड़ाकर उसने उसे इन दीवारों पर फेंक मारा। बच्चा मर गया। वह खूनी साबित हुई और जेल में आ गई।

भंडारी (अछूत) जाति की एक स्त्री चोरी के अपराध से जेल में आई थी। मुझे लगा, चोरी की यह बात शायद वह मेरे पास कबूल नहीं करेगी। कुछ तो भी झूठमूठ बहाना करके कहेगी। परन्तु उसने सब कुछ खोलकर कह दिया। सबेरे से शाम तक मरने तक काम करके भी पेट भरना दुश्वार था! अपने लड़के 'बामनों' के लड़कों जैसे दीखें ऐसी उसकी इच्छा थी। परन्तु पैसा कहाँ से लाए? आखिर में वह जिस घर में काम करती थी, वहाँ चोरियाँ करने लगी। छोटी छोटी चोरियाँ तो पच गईं। उसे कुछ हिम्मत हुई और उसने बड़ी छलांग ली। वह छलांग सीधे जाकर जेल में आ पड़ी!

यह सब कहानियाँ सुनते सुनते मेरी आँखों में ज्वालामुखी धधक उठता! क्या करने से ऐसी बातें दुनिया में न होंगी? यह अपराधी स्त्रियाँ मेरी ही जैसी तो थीं। पुरुष के प्रेम का मोह – वसन्त, माणिकराव, बाबुराव – तीनों पर मैंने वैसा ही प्रेम किया। पेट किस के पीछे से छूटा है? सुख किसे नहीं चाहिए? परन्तु जिस समाज में जेल बराबर भी आदमी की सुविधा नहीं रखी जाती, वहाँ वे क्या करें?

रात की भयानक शान्ति में, जेल में, कई ऐसे विचार मन में उठते हैं जो उठने नहीं चाहिए। बाबुराव ने सज़ा का जुरमाना भर दिया था यह मैंने सुना पर वे मुझसे मिलने एकबार भी नहीं आए। मैंने जेल में से एक चिट्ठी भेजी; परन्तु उसका उत्तर उन्होंने नहीं दिया! जेल से छूटने पर मुझ पर क्या बीतेगी इसकी कुछ कुछ कल्पना मुझे आने लगी। सुख का चित्र दुख की पार्श्व-भूमि पर अंकित करने में परमात्मा को आनन्द आता होगा! जेल से छूटते ही मैं एक बालक की माता जल्दी ही होऊँगी, परन्तु बाबुराव की पत्नी मैं रहूँगी या नहीं—

'बी' क्लास में रहकर भी फाँसी के कमरे में रखे हुए आदमी के समान मेरी हर रात को हालत होती।

जेल से छूटी, तब मेरे महीने बिल्कुल पूरे होते आए थे। दादा मुझे बहुत

जल्द बेलगाँव ले आए। बंगले के दरवाज़े में पैर रखते ही मेरा हृदय काँप उठा! जेल के दरवाज़े में इतनी डरी नहीं थी।

बाबुराव स्कूल में ही गए थे। सास पिछले दरवाज़े कुछ कर रही थी। कौन आया है यह देखने के लिए उन्होंने गर्दन ऊपर उठाई। मैं एकदम चौंक गई – उनका कपाल वैधव्य सूचित कर रहा था। जेल में की उन स्त्रियों की मुझे याद आई। उस बंगले में सास का गए दस बरस का जीवन – जेल क्या उससे भिन्न होता है! ससुर की वह सेवा चाकरी–इससे तो कड़ी मज़दूरी वाली जेल बेहतर थी! मेरे मन में हुआ – अपनी समाज व्यवस्था ग़रीबों के लिए बनाई गई एक जेल है!

मैं रोते उनके पैरों लगी। उन्होंने मुझे उठाकर गोद में भर लिया। मुझे माँ की याद आई। अंतिम बीमारी के समय इसी तरह पेट से सटाकर उसने मुझ पर अश्रुओं का अभिषेक किया था। सास की आँखों की गंगा से मेरे हृदय में जलती हुई आग शांत हुई।

शाम को वे स्कूल से आए। मुझे देखते ही उनके भाल पर इतने बल पड़े...

छः महीने बाद वे मुझे देख रहे थे। जेल का अन्न – उसमें भी गर्भवती होने के कारण मैं बहुत सूख भी गई थी। उन्होंने हँसकर–'कितनी सूखी है तू!' इतना भी यदि कहा होता तो मुझे मुठी भर मांस आ जाता। वे चोरी करके जेल में गए होते तो घर वापिस आने पर पहिली दृष्टिभेट में मैं इतने हल्केपन से और निर्दयता से उनकी ओर न देख सकती थी।

दादा चुप बैठे थे। बाबुराव ने ही अपनी माँ से कहकर शुरूआत की–'माँ, क़ानूनभंग का आंदोलन बाहर अभी भी चल रहा है।'

माँ ने उत्तर दिया–'अपने घर में भी वह शुरू हो जाएगा!'

'हमारे?' आँखें फाड़ फाड़कर मेरी ओर देखकर बाबुराव बोले।

'हाँ, घर घर वही चलेगा!' माँ ने हँसते हँसते कहा।

'औरों के घर क़ानून भंग पच जाएगा; परन्तु हमारे घर नहीं चलने दूँगा मैं!'

'नहीं कहकर कैसे चलेगा? वह चलेगा, बोलेगा —'

'मैं हाथ पकड़ कर बाहर निकाल दूँगा उसे!'

'या गोद में लूँगा!' सास को इस तरह हँसते हुए मैंने कभी नहीं देखा था।

बाबुराव ने चिढ़कर कहा 'गोद में लेने को कोई पगला नहीं गया हूँ मैं!'

'आज नहीं हुए हो तो कल ज़रूर होओगे!'

'कैसे?'

'कैसे क्या? बहुरानी के महीने पूरे हुए हैं। किर्लोस्कर का पलना अब घर में लाओ। फिर तो घर में क़ानून भंग जल्दी ही शुरू हो जाएगा। रात को आराम से सोने का क़ानून तुम्हारा बच्चा तोड़ेगा ही रो रोकर। कागज़ पर स्याही नहीं गिराना यह तुम्हारा क़ानून। परन्तु बच्चा बड़ा होने पर वह भी क़ानून तोड़ेगा।'

सास को इस तरह बोलते हुए मैंने कभी नहीं देखा था। परन्तु उनके शरीर में तो वकील नाच रहा था इसमें संदेह नहीं। उन्होंने उस दिन मेरा इतना पक्ष लिया, इसी से यह मामला इतने जल्दी निबट भी गया।

उसी दिन रात को बाबुराव ने दो चिठ्ठियाँ मेरे बदन पर डाल दीं। मैं जेल में थी, तब वे आई थीं। दोनों खुली हुई थीं। मुझे वह अच्छा नहीं लगा। उन्हें खोलकर यदि उस में का मज़मून वे जेल में सूचित करते तो मुझे इतना बुरा नहीं लगता। हमारी बिगड़ी हुई गिरस्ती अभी कुछ जम रही थी। इसलिए कुछ न बोलते हुए मैंने वे पत्र पढ़े। इंदु का पत्र बहुत छोटा सा था।

'प्रिय उल्का बहिन,

तू, क़ानूनभंग करके जेल में गई यह अख़बारों में पढ़ा। तू इतनी साहसिक होगी ऐसा मुझे मालूम नहीं था। बंबई में तो आन्दोलन की

जैसे बाढ़ आ गई है। प्रभात फेरी, केसरी साड़ी, झंडा वंदन, एक नहीं पचासों–हज़ारों नई चीजें देखने को मिलती हैं। अपने कोंकन में महोदय पर्व को समुद्र पर मेले की भीड़ होती है न, बिल्कुल वैसा ही लगता है यह आंदोलन देखकर। मेरी लड़की को अभी बोलते नहीं आता! नहीं तो 'झंडा ऊँचा लहे हमाला!' यह गाना हमारे घर में भी सुनाई देता।

बाबा ने इस आन्दोलन में पैसे की सहायता बहुत दी। वह व्यर्थ नहीं गई। उनकी मिल को कॉंग्रेस की ओर से बहुत जल्दी मान्यता मिल गई।

अभी बीच में मैं बिल्कुल शुद्ध खद्दर पहनने लगी थी। 'समुद्र में रहकर ऐसी कोरी ही रही तू?' कहकर मेरी साथिनें मुझे चिढ़ाने लगीं। परन्तु फिर क्या करती? माणिकराव को वह सब पसंद नहीं था इसलिए मुझे वह छोड़ देनी पड़ी। और सच कहूँ उल्का बहिन, वह मोटा झोटा खद्दर मुझे नहीं अच्छा लगता। ग़रीब चाहे उसे काम में लाएँ, परन्तु तुम्हारी मेरी जैसी स्त्रियों ने क्यों व्यर्थ मे अपने प्राणों को कष्ट डालना चाहिए? भगवान देता है मिठाई, और हम माँगें खटाई, ऐसा ही कुछ होगा वह!

माणिकराव की तनखा बढ़ी है आजकल। बीच में कुछ हड़ताल वगैरह चल रही थी। जयवंत शिरोडकर नाम का तुम्हारे ही उधर का कोई गुंडा आवारा आदमी है। तुम्हारी पहचान का है शायद ऐसा माणिकराव कह रहे थे। वह मज़दूरों को हड़ताल करने के लिए उकसा रहा था। परन्तु माणिकराव ने उसके सब इरादे तोड़ दिए। आजकल मेरी लड़की को जल्दी ही भाई होनेवाला है। लड़का हुआ तो मोहन नाम रखेंगे। लड़की हुई तो सरोजिनी। आजकल के आन्दोलनों को सोहनेवाले ये नाम हैं न? शाला में तुम्हारा सदा मेरे

ऊपर नंबर रहता था, परन्तु तुम्हारे पहले मैं माँ बनी। माँ होने का आनन्द! उल्का बहिन, वह शब्दों से वर्णित कर नहीं सकती। अब बंबई आओगी तो खाली गोद न आना।

तुम्हारी,

इंदु।

चंद्रकान्त की चिठ्ठी विसापूर जेल से आई थी।

प्रिय उल्का बहिन,

आजकल मैं जेल में हूँ। परन्तु मुझे मिल में रहने जैसा जान पड़ता है। यहाँ 'सी' क्लास में अनेक कैदी मेरे मित्र हो गए हैं। उनमें चोर हैं, खूनी हैं, डाकू हैं, व्यभिचारी भी हैं। उनसे सबसे मैं बहुत खुले तौर पर हँसता हूँ, बोलता हूँ, उनका मज़ाक करता हूँ, और उनसे अपनी मज़ाक भी करा लेता हूँ। सफेदपोश लोगों की अपेक्षा नीची जाति के लोग ही ज्यादह हैं इन कैदिओं में। परन्तु उसका सच्चा कारण बताऊँ? सफेदपोश रुपये का सफेदा पोतकर अपने काले कारनामें ढाँक सकते हैं। इन ग़रीब आदमियों से वह कैसे बनेगा?

'सी' क्लास के कैदिओं को देखकर एक अंग्रेज़ी कहावत की मुझे याद आती है। 'कुत्ते को मारना है न, फिर उसे पागल कह दो, बस काफी है!' ग़रीबी, अज्ञान, धर्मान्धता, इन सब चीज़ों का कितना विचित्र सम्मिश्रण इन लोगों में हुआ है? उस मिश्रण को स्वाभाविक पशु-प्रवृत्तियों की और व्यसनों की मदद मिली कि गुनाह के रूप में उसका विस्फोट होता है। परन्तु वे ग़रीब क्यों बने रहे, इसका किसने विचार किया है?

हमारी जेल में एक अमीर गुजराती सत्याग्रही हैं। गांधीजी के बड़े भक्त! खुद को 'ए' क्लास मिलने पर भी और सत्याग्रहियों

को बुरा न लगे इसलिए वे ' सी ' क्लास का खाना खाते थे कुछ दिन तक। उनके आगे यह प्रश्न रखा तो बोले–' भाग्य ! '

कैसा है भाग्य का सहारा ? जब एक वर्ग दूसरे वर्ग के प्राण लेकर आनन्द करता है तो उस दूसरे वर्ग का जीवन पशु से भी अधिक दुःसह होता है। मज़ा यह कि इस गुजराथी सत्याग्रही को हिन्दुस्थान पर अंग्रेज़ों का कोई अधिकार नहीं है यह तो समझ में आता है। परन्तु यही न्याय, ज़मीदारों के ज़मीन पर के अधिकारों को कल्पनासृष्टि में भी लगाने को वह राज़ी नहीं। लैंकेशायर वालों ने हिन्दुस्थान को लूटा इस बात पर वह चिल्लाता है। परन्तु हम में से ही पूँजीवाले लोग दलाली या साहूकारी के रूप में अपने ही भाइयों को नंगा कर रहे हैं यह उसे नहीं दिखाई देता। दूर का स्पष्ट दिखाई देता है, पास का नहीं, ऐसी उनकी दृष्टि है। शस्त्रक्रिया के बिना वह सुधरेगी ऐसा मैं नहीं मानता !

मैं कोई नेता नहीं, विख्यात लेखक नहीं या साधुता की पदवी तक पहुँचा आदमी भी नहीं ! परन्तु ' सी ' क्लास के इन अपराधियों की ओर देखकर मेरे मन में आता है – इनसे भी बड़ा अपराध करने वाले समाज में सम्मानपूर्वक घूमते हैं। मोटरों में रमते हैं, बंगलों में जलसे मचाते हैं। उनकी पूछताछ कौन करेगा ? उन्हें सज़ा कौन देगा ?

विकारवश होकर एक आदमी दूसरे का खून करता है। न्यायदेवता उसे कड़ी सज़ा देती है। परन्तु दवादारू के, अन्नवस्त्र के और शिक्षण के अभाव में रोग से, उपवास से या अज्ञान से जो लाखों आदमी हमारे देश में अकाल मरण भोग रहे हैं – उनमें से हर एक की मृत्यु एक व्यवस्थित योजनाबद्ध हत्या ही है ! पाँच रुपयों की चोरी को कभी कभी पाँच महीने की मज़दूरी की सज़ा मिलती है।

परन्तु बुद्धि अथवा शरीर को तिल भर भी न खर्च करते हुए, एक बरस में हज़ारों रुपयों की कमाई करने वाले लोग और भी बड़े चोर नहीं हैं क्या ? उन्हें सज़ा ? पुश्तैनी अमीरी के बल पर वे संस्थाओं के अध्यक्ष बनते हैं, अखबारों में उनके फोटो आते हैं —

जाने दो ! कितना भी लिखने पर यह कथा नहीं समाप्त होगी। मैं सुखी रहूँ ऐसी तुम भगवान से प्रार्थना करती होगी। परन्तु उसकी अपेक्षा सब ग़रीब लोग सुखी रहें ऐसी प्रार्थना करो। इसमें भी मेरा स्वार्थ है ही। क्यों कि मैं गरीब ही हूँ न ?

तुम्हारा बंधु,

जयवंत।'

पुनश्च— आजकल समय नहीं कटता इसलिए मैं कविता करता हूँ। साथ में एक भेज रहा हूँ। तुम्हें पसंद आवे तो देखो —

*"काय पाताळातुनी
ये वरी बळिराजा हा गुणी ॥ धृ० ॥
तुफान दर्या गेला खवळुनि
लाटा उठती क्रूर वाघिणी
हांसत होडी आंत घालुनि
रांपण ओढी कुणी। शिकारी रातभरी जागुनी ॥
धरणीचा जणुं भव्य मनोरा
माड झुले वरि सैरावैरा
भयमितीला मनीं न थारा

* 'क्या पाताल में से भी
गुणी आता बली ऊपर।
समुंदर में उठा तूफान, मौजें उठ रहीं बाघिन
उसी में नाव खे हँसकर,
चलाता डाँड अब कोई शिकारी रात भर जगकर।

*चढे झरझरा कुणी । शिपाई बाहुमधीं कवळुनी
ऊन लखलखे नभिं, तरवार
अंगि वार करी वारंवार
शुभ्र मिटानें फुलवी आगर
कवि वेडा जणुं कुणी । फुलांची रास करी उपवनीं ॥
पातळांतिल मधुर मासळी
आभाळांतिल गोड शहाळीं
मीठ लपे जें दर्याच्या जाळीं
अन्नहि भूमींतुनी । आणिती बळी सदा झुंजुनी ॥
हाय ! पहा परि राजाच्या घरिं
मीठ भाकरी नसे दुपारीं
बाळ वळवळें—चून तरी न करिं
कुबेर असुनी जनी । जाहला करटीचा हा धनी ॥
इंद्र धुंद मधु—नृत्य—गायनीं
घडिघडि घुंडी नव इंद्राणी !
वटु वामन, बघ उघड्या नयनीं
ये अवतरुनी क्षणीं । बळीला बसवी सिंहासनी

जल्दी ही मैं माँ बनी । लड़की हुई देखकर सास का मन खट्टा हुआ । परन्तु मुझे उसका कुछ भी बुरा न लगा । मैं दादा की लड़की थी न ?

---

* बड़ी मीनार सी धरती उसी पर डोलता नरियल,
न मन में डर ज़रा भी धर,
चढ़ा जाता गगन भेदी सिपाही बाँह में भरकर ।
चमकती धूप अग्नि जैसी, बदन पर वार कर फिर से,
नमक छिड़के सफेद सुघर,
जमाता कवि कहीं पागल बगीचे में सुमन सुंदर
अतल की मधुर मछली ले, गगन के मधुरतर नरियल

लड़की का बारहवे दिन नामकरण होने के बाद दादा बेलगाँव से जाने लगे। रत्नागिरी जिले में अछूतों का सुधार करने में अपनी शेष आयु व्यतीत करने का उन्होंने निश्चय किया था। वे मेरे पास रहें ऐसा मुझे बहुत लगा था। मैंने बहुत हठ किया। तब वे बोले–'बेटी उल्का, तुम्हारा विवाह हुआ तब मैंने तुझे अपने ही पास रख लिया होता तो वह अच्छा लगता? मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा 'कहाँ विवाह और —'

दादा ने कहा 'वाह! यह भी एक तरह का विवाह ही है मेरा!'

मैं सुनती खड़ी रही।

'उल्का, जवानी में शरीर का लग्न होता है। उस लग्न का ऋण पूरा हुआ कि आत्मा का विवाह करना चाहिए न? कितने दिन उसे यों तिलमिलाते रखूंगा।'

मैं भी आखिर दादा की ही लड़की थी। मैं बोली–'तुमने जिस दिन पैसे की ओर पीठ करके स्कूल चलाया उसी दिन तुम्हारी आत्मा का विवाह हो गया —'

मेरी बात दादा को जँची ऐसा जान पड़ा। वे हँसते हँसते बोले–'बड़ी अक्लमंद है तू। उस समय मेरी आत्मा का विवाह हुआ जरूर। मगर वह

---

* नमक जो जलधि के हो डर,
अहा! यह अन्न धरती से बली लाता सदा लड़कर।
नहीं है किन्तु राजा घर नमक रोटी बिना दुपहर,
क्षुधा से बाल हैं व्याकुल
जगत में जो धनी सच्चा वही भिक्षुक बना दर दर।
शराबी इंद्र नर्तन में नई इंद्रायणी खोजे,
खुले नेत्रों न सह वामन
हुआ अवतीर्ण तत्क्षण बली को राज्य सिंहासन!

कुछ सुखदायक नहीं हुआ विशेष ! इसलिए अब गृह विच्छेद करके मैं दूसरा विवाह कर रहा हूँ । आत्मा का पुनर्विवाह चाहे तो कहो इसे । '

आगे मैं कुछ नहीं बोली । परन्तु शरीर का विवाह, आत्मा का विवाह, आत्मा का पुनर्विवाह यह दादा के शब्द– उन एक एक शब्द से जैसे बिजली चमक रही थी ऐसा मुझे लगा ।

मेरी बिदाई के समय दादा ने मुझे बाँहों में भर लिया । उन्होंने मेरी बच्ची विमल का चुम्बन लिया तब मैंने कहा– ' विमल को आशीर्वाद दो न अपना ! '

' माँ जैसी बनो बेटी ! ' उसकी छोटी सी बँधी मुट्ठी हाथ में लेकर वे बोले ।

जाते समय उनकी आँखों में आँसू आ गए । मुझे लगा मानो वे आँसू गा रहे हैं –

*' *घरिं एकच पणती मिणमिणती*
म्हणुं नको उचल चल लगबगती '

●●●

इसके बाद दो ढाई वर्षों का काल । मानो कल परसों की बातें हों । पर्वत दूर से सुंदर जान पड़ता है, परंतु पास से ?

एक बार हृदय खोल देने पर चुराकर भी क्या रखूँ ? बाबुराव खुश रहे इसके लिए मैंने बहुत कोशिश की । वे विमल को सजाते, खिलाते । परंतु उनका मुझ पर पहेल जैसा ही प्रेम है यह किसी तरह मैं न सोच सकी । मन में आया—मेरे हाथों से जेल में जाने का अपराध ज़रूर हुआ । उतना सा वे क्षमा न कर सके !

विमल को मेरे स्तनों का दूध मिले इस विचार से सास ने मुझे ऊपर

* ' घर एकहि दीपक मन्द ज्वलित —
मत कहो, चल उसे उठा त्वरित !

दुमंजिल पर न सोने का धीमे से सुझाया था। मातृपद प्राप्त होने पर अनजाने ही क्यों न हो, शारीरिक सुख के बाहर का प्रेम स्त्री के मन में जागृत होता है। उस कारण से सास के कहने के अनुसार ही मैं चलती थी। एक दिन, रात को उन्होंने नीचे आकर मुझे नींद में से जगाया और सुख के मोह को नहीं, तो उन्हें प्रसन्न करने की आशा पर मैं बली हुई। यह चोरी से चलने वाला कार्यक्रम –

दो तीन महीने बीत गए। विमल को दूध नहीं मिला। सास को शंका हुई। मेरी भी अन्न पर की इच्छा उड़ गई। परन्तु मुझे जेल नहीं सहन हुआ या मेरा पहला बच्चा मुझसे न सहा गया, चार महीने के बाद मेरे पेट में एकदम जोरों से दर्द शुरू हो गया। सास तो बहुत घबड़ा गई। डॉक्टर, दाई सब आए और इस अपमृत्यु में से किसी तरह मैं बच निकली।

इस अकालिक गर्भपात से मैं बिल्कुल अधमरी सी हो गई। विमल का सब कुछ सास करती थी। रसोई के लिए बाबुराव ने एक स्त्री को रख लिया। वसंत ने सावंतवाड़ी से भेज दी थी वह। चंद्रकान्त की माँ बिल्कुल जैसी की वैसी थी वह! उसके आने से चुपचाप पड़े रहने के सिवा मुझे कुछ काम नहीं बचा था। परन्तु खुली आँखों के सामने भविष्य–काल के चित्र नाचने लगते। अपना अगला जीवन क्या इसी तरह बिछौने पर पड़े पड़े बीत जाएगा? प्रकृति कितनी निर्मम होती है! छोटे बच्चे तितलियों के पंखों में डोरे सीकर उन्हें खिलाते हैं न? वैसी ही कुछ यह उसकी लीला नहीं है क्या?

एक दो महीने ऐसे ही बीत गए। हम दोनों वैसे बड़ी देर तक बोलते। परन्तु उसमें पहले जैसा खुलापन नहीं बचा था। एक बार मेरी पाँच सौ रुपये जुर्माने की बात चली। वे बोले – 'पाई नहीं कमा सकती तुम औरतें और जब खर्च करने लगती हो तो उसमें पाँच सौ रुपये तक गँवा देती हो!'

बिल्कुल मेरे मर्म पर आघात किया था उन्होंने। सचमुच मैं ज़रा भी नहीं कमा रही थी। स्त्री का स्थान संसार में कम क्यों है यह मुझे उस क्षण पूरी

तरह जान पड़ा। परन्तु उसी क्षण लगा— यह भी क्या कमा रहे हैं? आंबेगांव की सालाना दो तीन हज़ार की आय होती है इन्हें! परन्तु उस पैसे को क्या आय कह सकते हैं? आय वह नहीं है। फिर चन्द्रकान्त की जेल की चिट्ठी की मुझे याद आई। 'कभी पाताल में से भी' यह कविता कोई मेरे कानों में गुनगुना रहा है, ऐसा आभास हुआ।

जयवंत शिरोड़कर के जेल से आए हुए पत्र पर भी ऐसा ही खूब वाद विवाद हुआ। बोलते बोलते वे कह गए—' जहाँ उगता है वहाँ बिकता नहीं।'

मैंने उत्तर दिया ' बेलगाँव में गोभी के फूल मिलते हैं बहुत से!'

कुछ देर तक वे स्तब्ध थे। बाद में तीव्र दृष्टि से मेरी ओर देखकर वे बोले ' प्रेम के बारे में कह रहा था मैं। उस जयवंत के लिए तुम्हें कितना आदर है, परन्तु —'

उन्हें समझाना मेरे लिए प्रायः असंभव था। चंद्रकांत के पत्र मैंने सँभलकर रखे थे। वे मैं बार बार पढ़ती थी। वे पत्र ऐसे लगते जैसे मेरी बच्ची के चुम्बन हों! कितने भी लो, उनसे तृप्ति कभी होती ही नहीं थी। मेरे पढ़ने की किताबों में निशानी के तौर पर उनमें से कोई एक पत्र मैं रखती थी। यह सब उनके ध्यान में आ गया होगा!

फिर मैं जल्दी ही गर्भिणी बनी। डॉक्टर ने उन्हें बहुत डाँट कर कहा था, परन्तु उनसे अपना मन नहीं सँभला गया। उनका मन तोड़ना मुझसे न होता। मेरी विमल अब बड़ी होगी – उसके लिए बहुत खर्च करना पड़ेगा— वह भी वही करेंगे या नहीं, ऐसा कुछ तो भी कहकर मैं अपने विद्रोही मन को समझा रही थी। परन्तु—

परन्तु मेरे विद्रोही मन का आक्रोश उन्हें कहाँ सुनाई देता? उनके सामने एक स्त्री—उनकी ब्याहता—बिल्कुल अधिकार की स्त्री थी। वह अपना अधिकार पूर्णतः काम में लाते। शरीर सुख के इस अधिकार का नाम है प्रेम! छिः मुझे उस शब्द से घृणा होने लगी।

फिर चार महीने बीते। फिर मेरा पेट दुखने लगा। पुरानी सब बातों की आवृत्ति हुई। डाक्टर उन्हें डाँट गए—'अब इनके स्वास्थ्य को सँभालना चाहिए।'

इस बीमारी में प्रेम का अर्थ क्या है यही बात मेरे मन में बार बार आने लगी। वसंत, माणिकराव, मेरे पति और चंद्रकान्त इन चार तरुणों से मेरे जीवन में बहुत निकट संपर्क मुझे मिला। पहले दोनों ने मुझ पर प्रेम करने का नाटक किया। सद्भाग्य से वह दोनों नाटक एकांकी ही हुए! इस एक अंक में भी शरीर स्पर्श के सुख की कोशिश दिखाई दी। क्यों नहीं? मेरे पति! मेरे स्वास्थ्य की हालत इतनी कमज़ोर होने पर भी उनकी शरीर सुख की इच्छा कम नहीं हो रही थी। बीमे की रकम किश्तों में न देकर एक-मुश्त ही देते है न? वेश्या गमन और विवाह में भी उतना ही अंतर था। उन्हें मेरा शरीर अच्छा लगता है। वह शरीर न मरे इसके लिए वे बहुत कोशिश भी करेंगे। परन्तु मेरा मन — वह मर जाने पर वे उसकी तेरहीं भी न मनाएँगे।

उस दिन रात को चंद्रकांत के साथ पहाड़िया पर मैं कितनी देर तक अकेली बैठी थी। परन्तु शरीरस्पर्श की हल्की सी इच्छा भी उसकी एक भी कृति से नहीं दिखाई दी। ऐसा क्यों हुआ? कल्पना पर उसका प्रेम होगा। परन्तु माणिकराव का मुझ पर प्रेम रहते हुए भी उसने इंदु से प्रेम—सम्बन्ध कायम किया ही न? एक बार मुझ पर प्रेम करने वाला वसंत उस निरा से संबंध रखने इतना कामोन्मत्त बना। चंद्रकांत वैसा नहीं है। यह अंतर क्यों? कितने दिन तक मैं यह पहेली सुलझा रही थी! शरीर सुख के मोह की मैं स्वयं बलि हो गई थी न? फिर दूसरों को अपराधी साबित करने का मुझे क्या अधिकार था? या प्रेम की पवित्रता केवल कविता में ही पढ़ने की बात है क्या?

मैं ज़रा सी अच्छी होते ही बाबुराव पुनः पहले जैसे मुझसे व्यवहार करने

लगे। परन्तु अब मुझे उनसे भय होने लगा। कई लोगों को मेरा लिखना अत्युक्तिपूर्ण जान पड़ेगा। परन्तु हिम्मत करके लिखती ही हूँ मैं। शरीर सुख में एक तरह की कविता है, नशा है! परन्तु मेरे पति की दृष्टि से वह गद्य प्राय, नित्य की आदत ही बन गई थी!

मैं उनसे दूर-दूर रहने लगी। शरीर दूर रहकर भी मन से एक रहना चाहिए ऐसा मुझे लगा। परन्तु मेरे दूर-दूर रहते ही हमारे मन के मार्ग भिन्न हो गए। पहले जैसी हँसी, मौज से बोलना, मज़ाक करना, धीमे धीमे, एक एक लुप्त होने लगा। अँधेरा घिरने पर दीयों के अभाव में घर जैसे भयानक लगने लगता है, वैसा ही मेरे मन का भी हुआ! विमल दो बरस की होकर तुतलाने लगी। सास उसको लड़ाने में दंग हो गईं। परन्तु मेरे मन को शांति न मिली।

वे बीच-बीच में गाने के लिए बाहर जाने लगे। यह लक्षण किस बात के हैं यह मैं जान गई। परन्तु मुझे स्वयं को मरने की इच्छा नहीं थी। उनको रोकने का दूसरा और कौनसा साधन मेरे पास शेष था। अब तो उम्र के चालीस बरस बीत गए। फिर भी मन क्यों नहीं रोक पाते हैं। पता नहीं। परन्तु—

मानो चंद्रकान्त मुझे यही बात समझाकर कह रहा था। आदमी अमीरी में पला, विलासी बना कि उसकी सब बातें उसे आदतनुमा हो जाती हैं। वह शरीर का गुलाम बनता है। अमीरों के सब ऐशो आराम उसके शरीर की गुलामी हैं। यह गुलामी कायम रखने के लिए वह ग़रीबों को गुलामी में सड़ाते रहते हैं। उनका मन शरीर से मरा हुआ रहता है। यह मरा हुआ मन ज़िंदा होगा ही नहीं। वह मरेगा नहीं ऐसी चिंता पहले से ही करनी चाहिए।

मैं खुली आँखों से उनके विलास को देख रही थी। जल्दी ही बड़े दिन आए। वे लगान-वसूली के लिए पन्द्रह बीस दिन आंबेगाँव में बाकर रहने वाले थे। साथ में रोटी-पानी के लिए सास जाती। पर वे बोले—'छोटी

बच्ची विमल का तुम्हें सब कुछ करना है। माँ, तुम यहीं रहो। यह महराजिन जायगी मेरे साथ।'

वह और चन्द्रकान्त की माँ जिस दिन आंबेगाँव को जाने वाले थे, उसके एक दिन पहले चन्द्रकान्त का एक पत्र मुझे मिला। आम्बेगाँव से आया था वह—

'प्रिय उल्का बहिन,

विसापूर जेल से मैंने भेजे हुए पत्र का उत्तर भेजने की तुम्हें फुरसत नहीं मिली। होती भी कैसी? आंबेगाँव के बड़े ज़मींदार की पत्नी हो तुम। बंगले के आसपास के बगीचे में और दरवाज़े के सामने की मोटर में तू बिल्कुल दंग हो गई होंगी। जेल के आदमी की तुम्हें क्यों याद आती?

गांधी—अर्विन सन्धि के समय मैं छूटा। तुझे आकर मिला जाय ऐसी बहुत इच्छा हुई मेरे मन में। परन्तु फिर मन हुआ – घास फूस मोगरे की बेल से संबंध प्रस्थापित करे, वैसी ही कुछ बात होगी! और तुम्हारे पतिराज को यह कहाँ तक पसंद है, इसमें भी मुझे संदेह है!

इतने दिनों तक मैंने तुम्हें उंगली इतना पत्र भी नहीं भेजा। परन्तु वैसा ही उसका कारण भी है। उल्का बहिन, तुम्हारे बारे में मुझे कितना भरोसा था! परन्तु तुम ऐसी पानी के समान बन जाओगी यह स्वप्न में भी मुझे सच न जान पड़ता। तुम उल्का! तारा! टूटते समय भी प्रकाश देने वाली! समय आने पर हवा में मिल जाने वाली, धरती पर गिरने से पत्थर बनने वाली! परन्तु पानी बनकर किसी भी रंग में मिल जाओगी – असंभव, बिल्कुल असंभव लगता था मुझे!

नेपोलियन के कोश में अशक्य शब्द नहीं था। परन्तु कहाँ नेपोलियन

और कहाँ मैं ! तुम एक ज़मींदार की पत्नी बनी हो । मुझे खुशी हुई । परन्तु ग़रीब किसानों के घर पर से गधे का हल चलाने जब वे चले, तो उस समय उनका हाथ थामना तुम्हारा कर्तव्य था या नहीं ? आदर्श के लिए जीवन को राख में मिलाने वाले दादा की तुम लड़की ! शरीर सुख में दंग होकर तुमने आत्मा का गला कैसे घोंटा ?

आंब्रेगाँव के सगुण को तुम अच्छी तरह जानती होगी ! उसके घर की ज़ब्ती उन्होंने दो बरस पहले की । बिल्कुल पानी बरस रहा था, ऐसी हालत में ! सगुण की पत्नी जच्चे में थी ! भाई बुख़ार के मारे दाँत किटकिटा रहा था । सर्दी खाकर बच्चा और बच्चे की माँ मर गई । वह भाई भी मर गया । छूटे बेचारे सब इस यातना में से । सगुण तो पहले पागल ही हो गया था ऐसा सुना । अब उसका सिर ठिकाने पर है । परन्तु तुम्हारे पति के विषय में जो डंक उसके मन में है वह अभी तक हटा नहीं है । वह आजकल नाव वाले का पेशा करता है । वह नदी के उस पार तुम्हारी अमराई पर से अच्छी आवा-गमन चलती रहती है । चार पैसे मिल जाते हैं बेचारे को ।

अकेला सगुण ही नहीं, तो समूचा गाँव तुम्हारे पति के विरोध में हो गया है । लगान, वसूली, ज़ब्ती यह सब बातें न्यायसम्मत हैं यह सब मैं जानता हूँ । परन्तु आदमी के बनाए हुए नियमों के बाद भी इस दुनिया में कुछ है या नहीं, उल्का बहिन ? मनुष्य के समान उसके क़ानून भी अधूरे ही होते हैं । जैसा बोओगे वैसा पाओगे, यह प्रकृति का नियम है ! जो बोयेगा वही काटेगा, यह भी उतना ही प्राकृतिक नियम है या नहीं ? बंबई में मुझे सगुण के जो पत्र मिलते थे, उनमें कोई दूसरा स्वर बहने लगा था, इसलिए मैं यहाँ आया हूँ ! सगुण के कारण सारे गाँववालों का विश्वास मुझ पर जमा है । उनका गुप्त षड्यंत्र चल रहा है । उसका हेतु तुम्हारे पति का — लिख डालता

हूँ मन पक्का करके ! — तुम्हारे पति का खून करना है !

किसी युरोपियन मैजिस्ट्रेट का खून करके स्वतंत्रता नहीं मिल्ती, यह मेरा मत तुम्हें माल्म है । किसी ज़मींदार का खून करके किसानों के दुख दूर होंगे ऐसा मैं भी नहीं समझता; परन्तु इन आग की तरह भमके हुए लोगों को संभाले कैसे ? उनके मन तो जल उठे हैं। तुम्हारे ससुर ने कई ज़मीनें किसानों को फँसाकर हड़प लीं ! किसान लगान नहीं देते थे तब घाट पर के गुंडे बुलाकर उनसे बेदम मार दिलवाया। हेड क्लर्क के अधिकार का दुरुपयोग करके किसानों को कब्ज़े में रखा — एक न दो, ऐसे अनेक आक्षेप मेरे कानों पर आए हैं। सच झूठ कहाँ तक बताऊँ ?

तुम्हारा पति अच्छा पदवी वाला, पेशे से अध्यापक है। परन्तु उसका बर्ताव बाप से कुछ अलग नहीं है। ग़रीब किसान जब लगान देने को फ़ुरसत नहीं है ऐसा कहने लगते हैं तब यह हज़रत उन्हें कहते हैं, लगान नहीं तो लुगाई ला, बहिन ला ! उल्का बहिन, बिल्कुल निरुपाय होकर यह बातें लिखी हैं मैंने। परन्तु इन बातों के एक एक अक्षर में इन जल्ते हुए किसानों के मन में मिट्टी का तेल झोंका हो तो उसमें क्या आश्चर्य है ! गरीबों की औरतें और बहिनों की कोई आबरू ही नहीं होती है क्या ?

तुम घर के चार आदमी हो, और दो तीन हज़ार आय में से पाई पाई वसूल होनी ही चाहिए, ऐसा तुम्हारे पति का आग्रह है। परन्तु यहाँ प्रत्येक किसान के घर पर चार चार आदमी हैं ! बम्बई में आने वाला मिल का पैसा बन्द हो गया है। खेत में अच्छी फसल नहीं होती। यह सब क्या किसानों के अपराध हैं ? शहर में कोई दूसरे उद्योग या पेशे नहीं हैं, यह क्या उन्हीं का दोष है ?

यह स्थिति सुधरेगी कैसे ? अमीर लोग अपने अधिकार छोड़

देंगे तभी तो ? परन्तु यह कल्पना ही असम्भव कोटी की है । जोंक चाहे खून से विरत हो जाय, अमीर लोग बुरे–भले मार्ग से मिले हुए धन से मौज करने का अधिकार कैसे छोड़ेंगे ! ना – ना ! शराब के नशे में भी ऐसी असम्बद्ध बड़बड़ कोई नहीं करेगा !

सब आदर्श की बातें एक ओर भी रख दो तो भी इस बार तुम्हारे पति लगान वसूली के लिए न आवेंगे तो ही अच्छा होगा । जनता चिढ़ी हुई है । देवता के आगे नारियल रख कर उनका खून करने की शपथ लेने के विचार में वे हैं ! मैं उनका मन अपनी तरफ़ मोड़ने का यत्न करता ही हूँ । परन्तु अधिकार की भाँग की तरह प्रतिशोध की शराब आदमी के हाथ से क्या क्या न कराए सो थोड़ा है ! तुम्हारे पतिराज आ ही रहे होंगे । तुम भी उनके साथ आना ।

और क्या लिखूँ ? उल्का बहिन, ग़रीबों के लिए कुछ करो तुम । तुम माँ बनी हो, ऐसा यहीं परसों सुना । यहाँ के ग़रीब खेतीहर तुम्हारे ही सब बालक हैं । मेरी उल्का बहिन उनकी माँ बनेगी क्या ?

तुम्हारा बंधु
जयवंत । '

यह पत्र उधर दिखाना असंभव था । उन्होंने बहुत ज्यादह तमाशा किया होता । वे न जाएँ इसलिए पहले मैंने मेरी तबीयत खराब है, यह कारण कहा । ' तुम्हारा क्या, हमेशा का ही चलता है । क्या उसके लिए लगान वसूली रुक जायगी ? ' यह जवाब मिला ।

' मैं भी आती हूँ साथ । ' मैंने कहा ।

' यानी मेरा सब समय तुम्हारी सेवा में ही बीत जायगा ! '

मुझे ऐसा गुस्सा आया ! मेरा तिल के बराबर भी काम उन्हें कभी नहीं करना पड़ता था ।

' सास को कम से कम साथ ले जाते ! '

'क्यों? यहाँ आपसे मिलने जयवंत शिरोड़कर आने वाले हैं क्या?'

गुस्से के मारे मेरा सिर चकराने लगा। इस आदमी का जीवन में फिर चेहरा न देखूँ ऐसा जान पड़ा। परन्तु कुछ भी हो तो भी वे मेरे पति थे–मेरी विमल के पिता थे!

इतना होने के बाद चंद्रकान्त की चिठ्ठी दिखाना असंभव ही था।

चलते समय मैंने कोमल स्वर में कहा,–'अपना खयाल रखें –'

'मैं क्या जंगल में जा रहा हूँ जो कोई बाघ —'

'नहीं, सो बात नहीं। परन्तु आजकल ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर वाद उधर बहुत फैला है!'

'फैलने दो! ब्राह्मण जब घाट पर के गुंडे पिटाई के लिए लाएँगे तब ये ब्राह्मणेतर (अछूत, अवर्ण) समझेंगे!'

'लगान यदि कुछ कम भी हुआ तो —'

'उस जयवंत की चिठ्ठियाँ पढ़कर तुम्हारा भी दिमाग़ खराब हो गया है! वसूल कम हुआ तो अपने सब खर्च कैसे चलेंगे? विमल को अच्छे स्थान पर देना हो तो कम से कम दस बीस हज़ार दहेज तो देना ही पड़ेगा! कहाँ से लाएँगे ये पैसे? कहती हो कि वसूल कम भी हुआ तो चलेगा!'

'विमल अभी छोटी है!'

'और तू उससे भी छोटी है —'

उन्होंने मुझे आगे नहीं बोलने दिया।

● ● ●

वह पत्र सास को दिखाने की मेरी हिम्मत ही नहीं हुई! चंद्रकांत का बहुत भावुक, अधीर स्वभाव जान कर लगा – गाँव के ज़मींदार का खून करना सीधी बात नहीं है। वसूल न देने के लिए इन लोगों ने यह हौआ खड़ा किया होगा और भोला चंद्रकांत उसमें फँस गया होगा! व्यवहार में इतना डरपोंक बनकर कैसे चल सकता है!

परन्तु प्रतिदिन बिस्तरे पर पड़ने पर भयानक चित्र मेरी आँखों के आगे नाचने लगे। मैंने अभी आंबेगाँव नहीं देखा था। परन्तु नदी पार की वह अमराई, बीच में वह छोटी सी गहरी नदी – इस पार का गाँव – सब कुछ मानो पहले की भाँति मेरी आँखों के आगे खड़ा रहा! कभी दाँत–ओंठ भींचकर हँसी लिए चले आते किसान दिखाई देते, तो कभी मध्यरात्रि को हाथ में जलती मशालें लेकर घर को आग लगाने वाले किसान दिखाई देते। सब मन के खेल! परन्तु हर एक रस एक ही था — भयानक!

चार पांच दिन बीते। उनके सकुशल पहुँचने की और ल्गान वसूली ठीक से हो रही है इस आशय की चिठी मिली। निरा ने मुझे खास तौर पर पूछा है, सो लिखने की बात उन्होंने कही थी। उस पत्र से मेरी चिन्ता कम हुई।

पाँचवे दिन शाम को मोटर में एक अपरिचित महिला हमारे बंगले के दरवाज़े उतरी। उसके वे सुनहले बाल, कृश शरीर, तेजस्वी आँखें और बंगाली ढंग की पोशाक देखकर मुझे एकदम कल्पना की याद आ गई।

मुझे नमस्कार करते हुए उसने कहा – 'वन्दे मातरम्।'

'वन्दे मातरम्। आप कल्पना बहन हैं?'

उसके फीके चेहरे पर मुस्कराहट दौड़ गई।

'तुम्हारी होशियारी की चन्द्रकान्त जो स्तुति करता था वह व्यर्थ नहीं'– उन्होंने उत्तर दिया। रात को हम बड़ी देर तक पीहर में आई हुई दो बहिनों की भाँति बातें करती रहीं। दादा आत्मा के विवाह की बात करते थे। वह इसी को तो नहीं कहते ऐसा मुझे उस क्षण लगा। उसने जेल में की सब बातें मुझे बताईं। मैं भी क़ानूनभंग के आन्दोलन में छः महीने जेल गई थी यह सुनते ही उसने कहा,–'मेरी उल्का साहसिक है, यह चन्द्रकान्त यों ही नहीं कह रहा था!'

यह चन्द्रकान्त के नाम का तकिया कलाम उसके बोलने में बार बार आता

हमेशा जो सच है वही कहनेवाला चन्द्रकान्त था। परन्तु कल्पना के पास मेरी इतनी स्तुति करने का क्या कारण? और फिर उस कल्पना पर तो उसका प्रेम भी था। प्रेयसि प्रियतम के मुँह से कभी दूसरी तरुणी की इतनी स्तुति सुन लेगी?

जेल में चार साढ़े चार बरस बीत जाने के कारण कल्पना का स्वास्थ्य एकदम गिर गया था। उसका चेहरा, गाल, नख सब कुछ सफेद पड़ गए थे। उसने कहा—'पंडुरोग हुआ है मुझे। इसी से तो मैं जेल से रक्ताल्पता के बहाने छूट आई। अब मैं बहुत थोड़े दिन और जीनेवाली हूँ! जेल से छूटते ही मैं तुझे और चन्द्रकान्त को देखने चली आई।' मेरे कोंकन में चन्द्रकान्त ने दिए हुए पते पर वह ढूँढते आई थी।

जीना चढ़ते हुए भी उसकी साँस भर आती। रात को उसे बुखार भी आया। उसका खाना तो किसी छोटे बच्चे की तरह था! उसकी ओर देखते मुझे लगा कि विधाता ने त्याग की पुतली ही मेरे सामने लाकर बैठा दी है!

चंद्रकांत से मिलने का उसने बिल्कुल हठ ही पकड़ा। इसलिए दूसरे दिन मैं और वह आंबेगाँव जाने लगे। मोटर में बैठने से पहले उसने षड्-यंत्र की अपनी सब कहानी मुझे सुनाई! चंद्रकांत कलकत्ता जब से आया था तब से उसके मत कैसे बदलते गए, आतंकवाद से देश का कदम आगे नहीं बढ़ेगा इस पर कैसे उसका विश्वास हुआ, किन्तु पहले से शपथ ली थी इस-लिए विजय के साथ बम फेंकने में कैसे हिस्सा लिया, चंद्रकांत को चक्कर में डालने का षड्यंत्र फेल हो जाने से विजय चिढ़कर कैसे माफी का गवाह बन गया, पुलिस ने हाथ में फोटो लेकर समूचा बंगाल और महाराष्ट्र छान डाला—पर चंद्रकांत का पता कैसे नहीं लगा! चंद्रकांत ने कल्पना को कितने जल्दी मराठी बोलना सिखाया यह सारी कहानी किसी अद्भुतरम्य कथा की भाँति उसने रसपूर्ण रीति से सुनाई। अंत में वह बोली—'और एक मजे-

दार बात बतानी है तुझे। परन्तु उसका गवाह चाहिए! आज रात को चंद्र-कांत के सामने बताऊँगी वह!' उसकी इस मज़ेदार बात का क्या मतलब है? क्या चंद्रकांत से उसका विवाह निश्चित हुआ है? कुछ भी मेरी समझ-में नहीं आया।

शाम को आंबेगाँव की पगडंडी के पास मोटर वाले ने हमें छोड़ दिया। रास्ते से ही गाँव आधा मील और अंदर की ओर था! मेरे आने की बात जान कर बाबुराव गुस्सा होंगे! और फिर कल्पना की और उनकी पहचान करा देने में कोई अर्थ नहीं, यह ध्यान में लेकर अच्छी तरह अंधेरा जब तक नहीं हुआ, हम गाँव की ओर नहीं गए।

पहले गाँव का मंदिर मिला। अंदर खूब मंडली जमा थी ऐसा शोर-गुल से जान पड़ता था! कुछ तो भी मानता ली जा रही होगी ऐसी मेरी कल्पना थी। मंदिर की पिछली ओर झाड़ी थी। वहाँ हम कुछ क्षण भर खड़े रहे। लगा – चंद्रकांत अंदर होगा तो आगे का जाना भी बच जायगा! अंदर से संभाषण सुनाई दिया।

'फिर वह सगुण गया मा —'

'और वह जयवंत—'

'जाने दो! उनके सिर उनके साथ। इधर देखोजी सब जने। यह नारि-यल है। रखो इस पर एक एक आदमी अपना हाथ और लो शपथ! अब तो सब अपनी अपनी जान से डरने लगे और इसीलिए वह सगुण 'अरेरे!' कहकर हँसकर चला गया। एक दो आदमियों की जान जाएगी तो जाए, किन्तु इस नीच ज़मींदार को पहले सबेरा होने के भीतर जिंदा नहीं रखना है।'

आगे का सुनने की हिम्मत ही नहीं हुई। पहले उनका घर खोजना ज़रूरी था। मैं तो क़रीब क़रीब भागने लगी थी। कल्पना को उसका अर्थ ही समझ में नहीं आया। उसमें ताकत नहीं थी। फिर भी वह मेरे साथ साथ आने

लगी। बाबुराव का नाम पूछ कर वे किस झोंपड़ी में रहते हैं यह मैंने पूछा। पुरुष कोई अंदर नहीं था। एक पंचे की तरह साड़ी पहनी हुई औरत ने ढिबरी लेकर बाहर आकर हमें सब से पास वाला रास्ता दिखाया। चाँदनी धुँधली थी। बैटरी के प्रकाश में हम उस घर के पास आए। कुछ आदमी बोल रहे थे। मेरी जान में जान आई। अँधेरे में एक ओट में खड़ी रहकर मैं सुनने लगी। दोनों आवाज़ें मेरी पहचान की थीं। एक चंद्रकान्त की, दूसरी उसकी माँ की!

'कब गए वे?'

'अभी अभी!'

'किसके साथ?'

'वह सगुण नाव वाला नहीं है?'

'नदी की ओर गए क्या?'

'हूँ।'

'क्यों? किसलिए?'

'उस पार वह निरा रहती है न? गाँवकर की स्त्री! बंदे की लड़की! उसे क्या? आजकल यही तीन चार दिन से चला है। मैं कहती हूँ, मुझे क्या करना है? पकाया, परोसा, चुप रहे। नाम क्या तुम्हारा?'

'मेरा नाम – नाम जयवंत शिरोड़कर।'

चंद्रकांत तीर की तरह वहाँ से भाग निकला।

'सभी साले बदमाश हैं मुए' कहकर उस औरत ने दरवाज़ा ज़ोर से लगा लिया। एक पुकार के अंतर पर सब मकान दिखाई दे रहे थे। परन्तु चंद्रकांत जल्दी से जिस ओर गया, उसी ओर जाने का मेरा मन हुआ! उस संभाषण से बुरा अर्थ तो साफ ज़ाहिर हो रहा था। उजली चाँदनी में एक पगडंडी साफ दिखाई दे रही थी। हम उसी राह से भागने लगे। दूर रहते हुए चंद्रकांत की कंपित स्वर से दी हुई एक विचित्र आर्त पुकार सुनाई दी – 'सगुण, सगुण–'

मुझे उस पुकार का अर्थ समझ में नहीं आया। किसी का गला दबाने पर वह जैसे चिल्लाता वैसी ही वह पुकार थी। मेरा कलेजा धुकधुकाने लगा। हाथ पैर जैसे गिर गए। किसी तरह पैर उठाकर नदी के किनारे तक हम गए। चाँदनी में और विद्युत-प्रकाश में मैंने देखा — वह भयानक क्षण! नदी के मध्य में एक नाव उलट रही थी। उसमें का आदमी पानी में डूब रहा था। और कोई एक आदमी सपाटे से तैरता हुआ उस पार जा रहा था। सगुण नाव वाला ही था वह!

चंद्रकान्त एकदम नदी में कूदकर नाव की दिशा में तैरने लगा! नाव डूब गई। मेरे पति नीचे जा रहे हैं ऐसा मुझे लगा! मैं एकदम नीचे बैठी, पालथी मारकर, आगे क्या हुआ मैं नहीं जानती।

काल किसी के लिए रुकता नहीं। दिन और रात के रूप में उसकी पलकें मुँदती खुलती रहती हैं।

वह कालरात समाप्त हुई। सबेरे फिर धूप निकल आई। पूर्व दिशा ने कपाल पर सूर्य बिंब का कुंकुम तिलक रेखित किया। वह देखकर मेरे हृदय में न जाने कैसी अकुलाहट होने लगी।

चंद्रकान्त पानी में तीन चार घड़ी तैर रहा था। परन्तु उसके हाथों कुछ न लगा। किनारे पर आकर वह गाँव के तैरने वाले लोगों को ले गया। परन्तु कुछ पता न लगा।

सबेरा होने पर पता लगा। नदी के प्रवाह के साथ साथ बहते बहते उस पार के हिस्से में उनका शरीर जा लगा था। सास विमल को लेकर आई। दादा आए। उनका दुख देखकर मेरा दुख कुछ बँट गया। अपने लिए अन्य रोने लगे तो आदमी को समाधान जान पड़ता है यह सच है!

निरा मुझे मिलने आई। उसे देखते ही मैंने गुस्से से चेहरा एक ओर कर लिया। इसीके कारण मैं विधवा हुई यह विचार मेरे मन में आया। यह रूपसी चुड़ैल यदि नदी के उस पार न रहती तो मेरे पति रात को नाव

में बैठकर उधर न जाते ! और सगुण को अपना बदला लेने का मौक़ा न मिलता !

मैंने मुँह फेरा देखकर निरा आँखें पोंछते हुए मेरी पीठ पर हाथ रखकर बोली 'तारा – भाभी नहीं है तू – मेरी तारा ही है तू – तारा !'

बचपन की उस पुकार ने आसपास की दुनिया बदल दी। निरा का हाथ हाथ में लेकर कुछ भरे कंठ से मैंने कहा – 'निरा, तू इतनी बुरी कैसे हो हुई ?'

नाग को जैसे कोई कुरेदे, वैसे ही उसने मेरी पीठ पर का हाथ झटके से पीछे खींचकर लेकर कहा– 'मैं बुरी बनी ?'

'हाँ, इंदु तुझसे बंदे की कहकर नफ़रत करती थी–'

'तारा, मैं नहीं हुई बुरी–'

'फिर–'

'मुझे बुरा बनाया गया–'

'किसने ?'

'तुम्हारे उस वसंत ने !'

मेरा तर्क सच साबित हुआ। निरा ने हिचकियों में सारी कहानी सुनाई। बाबुराव के दावे मुक़दमे के काम से वसंत को हमेशा आंबेगाँव आना पड़ता था। निरा का पति ही उनका सब प्रबंध करता। दया माया न रखते हुए वह हमारे लगान-वसूली का काम किया करता। इसलिए सारा गाँव उसके खिलाफ़ था। वैसा निरा रूप से अच्छी थी। इसलिए वह कहीं भी जाती तो पति को उस पर सन्देह होता। गांवकर का वह दूसरा या तीसरा ब्याह था। इसलिए प्रथम – विवाह की कोमलता उसके व्यवहार में बिल्कुल नहीं थी। न ठीक से खानेपीने को, न ठीक से दो मीठे शब्द भी कोई कहने वाला था। ऐसी स्थिति में निरा दिन बिता रही थी तब वह वसंत की और वसंत उसकी दृष्टि में आया। वह ग़रीब थी इसलिए और वह उसकी

तुलना में अमीर था इसलिए दोनों ही मोह के शिकार बने। गांवकर की आँखें गईं तब कोढ़ हुआ कहकर गाँववालों की जनता ने उससे प्रतिशोध किया।

आगे का इतिहास क्या? सब ओर एक ही है! गंगा स्वर्ग से नीचे उतरना कठिन! एक बार उतरकर वह पाताल के तलातल तक जाती है! निम्नगा जो ठहरी! वसंत का किसी अमीर की लड़की से विवाह निश्चित हुआ था इसलिए आजकल उसने निरा का प्रेम छोड़ दिया था। निरा चोरी से अपना पेशा चलाती और चार पैसे कमाती! बाबुराव आए तब उसके पति ने मदद माँगने के लिए उसे उनके पास भेजा। उन्होंने उसे देखा और प्रतिदिन रात को वे नदी के उस पार जाने लगे।

बाक़ायदा तलाशी शुरू हुई। और क़ानून के जाल में कहीं चद्रकांत न पकड़ा जाए, ऐसा डर लगने लगा।

उस में एक बात अच्छी थी। उनका शरीर नदी के दूसरे किनारे लगने के कारण मुक़दमा ब्रिटिश कोर्ट में चलने वाला था। सावंतवाड़ी में चलने वाला होता तो वसंत का सम्बन्ध उसमें आ जाता! उसने चंद्रकांत को पहचाना होता और— गाँव के लोगों की गवाह हुई। मंदिर में देवता की मानता लेने की सभा हुई थी यह कहने से कोई नहीं चूका। परंतु पहेल सगुण और बाद में जयवंत मंदिर से उठकर चले गए ऐसा हर एक के बोलने से जान पड़ा। रसोई बनाने वाली स्त्री ने पहले नाव वाला आकर पुकार गया और बाद में जयवंत नाम का कोई आदमी पूछताछ कर गया, ऐसा कहा। हम दोनों की भी गवाहें हुईं। पुलिस ने इधर उधर की जानकारी इकठ्ठा की! जयवंत और सगुण पहले एक ही मिल में नौकर थे, एक ही जगह रहते थे, इत्यादि बातें जानते ही उन्होंने चंद्रकांत को पकड़ लिया। सगुण और चंद्रकांत ने षड्यंत्र करके बाबुराव को नदी में डुबोया ऐसा कयास पुलिस ने भिड़ाया। चंद्रकांत के खिलाफ़ साक्ष्य एकत्रित करते समय

माणिकराव से उसे बहुत सी जानकारी मिली होगी। क्यों कि मुक़दमे में माणिकराव फ़रयादी की ओर से साक्षीदार बनकर आने वाले थे !

परंतु जिस दिन मुक़दमा शुरू हुआ सब मामला ही उलट गया। सगुण खुद होकर पुलिस के अधीन हुआ। दोन तीन बरस पहले घर ज़ब्त करके ज़मींदार ने मेरा सत्यानाश किया था इसलिए मैंने यह बदला लिया ऐसा उसने कहा। बाबुराव हर रात को नदी पार जाने लगे थे। नाव उलट भी गई तो अपने ऊपर बहुत अधिक लांछन न आवेगा ऐसा भी उन्हें लगा ! एक नाव को बड़ा छेद करके वह उसने सब ओर से चिंधियों से बंद कर दिया था। दूसरे किसी भी ढंग से खून होने से सारे गांववालों पर उसका आरोप आता। अतः उसने यही मार्ग पसंद किया ! जयवंत को उसने अपनी इस योजना का पता नहीं लगने दिया था। मंदिर से मैं एकदम उठ गया इसलिए संदेह के कारण वह भी मेरे पीछे पीछे आया, इत्यादि बातें उसने अपनी कैफ़ियत में बता दीं।

चंद्रकांत छूटेगा इस विचार से मैं और कल्पना आनंद में थे। अब उस मुक़दने से उसका संबंध एक साधारण गवाह से अधिक नहीं इसी विचार में हम दंग थे। परंतु सत्य कई बार कल्पना से भी अधिक आश्चर्यकारक होता है। जयवंत को यों ही छोड़ने की पुलिस की इच्छा नहीं थी। उन्होंने माणिकराव की गवाह ली। वह चंद्रकांत के विरोध में थी। सगुण और जयवंत नाम से आया हुआ आदमी और ही कोई होगा ऐसी शंका विरोधी पक्ष के वकील के दिमाग़ में आई। मुक़दमे को यह दिशा मिलेगी ऐसी किसी की भी कल्पना नहीं थी। तब रसोई बनाने वाली स्त्री की गवाह ली गई। उन्हें उसी समय वहाँ उपस्थित रखने की दक्षता भी रखी गई थी। मुक़दमा यों पलट जायगा, यह कोई भी नहीं जानता था !

बस। क्षण में सब मामला उलट गया।

'उस दिन रात को आए हुए जयवंत यही है ?'

यह प्रश्न सुनते ही चंद्रकांत की माँ चिल्लाई—' नहीं नहीं ! यह तो मेरा लड़का है ! '

' आपका लड़का ? अजी, यह तो मराठा है ! '

' कौन कहता है मराठा ? यह तो मेरा लापता हुआ लड़का चंद्रकांत है– '

चंद्रकांत, यह अक्षर कान पर पड़ते ही माणिकराव एकदम खड़े रहे ऐसा मैंने बाद में सुना।

●●●

सगुण को काले पानी की सजा हुई।

चंद्रकांत को पकड़कर बंगाल ले गए। इस आघात से कल्पना ने जो बिस्तर पकड़ा सो पकड़े ही रही।

मरणोन्मुखी कल्पना के पास बचपन की उस सूखी बकुल माला पर मैं आँसू ढालती बैठी रही। मेरा जीवन – जीवन क्या ? आग ही है ! ' इस आग का भी उपयोग है। अपनी कहानी तू जरूर लिख ! ' कहकर चंद्रकांत ने कच्ची कैद से बिल्कुल अपने गले की कसम दिलाकर लिखा था। मैं लिखने लगी। परंतु आगे — आगे क्या होगा ?

चंद्रकांत के मुक़दमे के निर्णय के लिए हम प्रतिदिन के अखबार बड़ी उत्सुकता से देखते थे। एक दिन शाम को कल्पना बिल्कुल मरणोन्मुख हो गई। यह रात भी बीतती है या नहीं ऐसा मुझे लगा। डॉक्टर के कहने के अनुसार मैं औषध दे रही थी। वह देखकर वह बोली—' उल्का बहिन, बहुत हो चुकीं वे दवाइयाँ। मैं बिल चुकाती हूँ उनका, सो लेगी ? '

उसका भावार्थ समझ में न आने के कारण मैं कुछ नहीं बोली।

' चंद्रकांत के सामने मज़ेदार बात कहूँगी ऐसा उस दिन कहा था न मैंने— '

यह भयानक दिन — उससे भी भयानक रात ! कल्पना का उस दिन का मज़ेदार बोलना मैं भूल ही गई थी।

'अब चंद्रकांत नहीं मिलेगा मुझे, तब तुझे ही कहती हूँ। चंद्रकांत ने कबूल किया होता तो विजय से न कहकर, चंद्रकांत से विवाह करने का मेरा विचार था। परंतु उसने एकदम ना कर दिया। तब मैंने पूछा – 'दूसरी किसी लड़की पर तुम्हारा प्रेम होगा।'

'हाँ' उसने हँसते हुए जवाब दिया।

'अधिक किस पर है? उस पर या मुझ पर?, मैंने गुस्से से पूछा।

'उस पर।' उसने शांतिपूर्वक कहा।

'नाम क्या है उसका?'

'उल्का!'

'तो उससे शादी करने वाले होंगे तुम!'

'ना! उस पर प्रेम करने वाला हूँ सिर्फ़!'

केवल प्रेम! निर्मल प्रेम!! आज तक मैंने जिस प्रेम का अनुभव किया – कहाँ वह प्रेम और कहाँ यह प्रेम! कहाँ दीपक, कहाँ सूर्य!!

उस रात को मेरी पलकें भी न झिपकीं। चंद्रकांत का मुझ पर इतना उत्कट प्रेम है! उसके अंतिम पत्र में —'उल्का बहिन! आंबेगाँव के ग़रीबों की माँ बनो!' यही अंतिम शब्द थे न? परंतु मैं उनकी माँ बनी तो कहीं मेरी विमल का सुख कम तो न होगा? हो तो हो! मैं दादा की, वैसे ही विमल भी मेरी लड़की है। पेट में रहते हुए छः महीने जेल के अन्न पर ही उसका पिंड पोसा गया है!

●●●

दादा ने लिखी हुई बात

आठ दिन गए। सायान्ह का समय था। कल्पना जीवन के अंतिम पल गिन रही थी। इतने में मैं अख़बार लेकर अंदर आया। कल्पना के सिरहाने बैठकर मैं पढ़ने लगा।

'विजय और कल्पना के षड्यंत्र में तीसरे अपराधी

चंद्रकांत का पहले का गुनाह, झूठा नाम रखकर समाज में घूमना, इत्यादि बातों की तहक़ीक़ात होकर उसे दस बरस कड़ी मज़दूरी की सजा दी गई।'

दस बरस! उल्का, कल्पना–सबसे रोना न थमा! थोड़ी देर से मैं पढ़ने लगा–

'आंबेगाँव के स्वर्गीय ज़मींदार की पत्नी उल्का बाई ने अपनी सास की सम्मति से सारी ज़मीन का ट्रस्ट किया है, सिर्फ़ सरकारी लगान भरने की शर्त पर गाँव के ग़रीब किसानों को ज़मीन देने का काम वह ट्रस्ट करेगा–'

कल्पना के मुख पर हँसी की रेखा चमकी। क्षीण स्वर में वह उल्का से बोली–'उल्का बहिन, चंद्रकांत कहता था वह झूठ नहीं। तुम उल्का, टूटी हुई तारा हो – तुम्हारे इस प्रकाश में—!'

वह आगे न बोल सकी! थोड़ी देर उसकी आँखें बोल रही थीं वे भी बाद में मूँद गई!

चंद्रकांत हम सब को दस बरस बाद मिलेगा! दस बरस! और कल्पना? कब, कहाँ मिलेगी वह पुनः?...

कल्पना की निर्जीव देह की एक ओर माँ और दूसरी ओर उल्का बैठी थी। माँ – कल्पना – उल्का! मेरे जैसे पुरुष को भी ये गुरुवत् शोभा देवेंगी! अगली पीढ़ी की नारी इनके आगे कदम रखेगी। और तब —

विमल तुतले स्वर में बाहर गा रही थी —

*'*घलिं एकच पनती मिनमिनती*
म्हनुं नको उच्यल च्यल लघबघ ती.'

*'घल एकहि दीपक मंद ज्वलित—
मत कहो, चल उसे उठा त्वलित!'